महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

(द्वितीय एवं तृतीय खण्ड)

पृष्ठ संख्या 001-100 तक

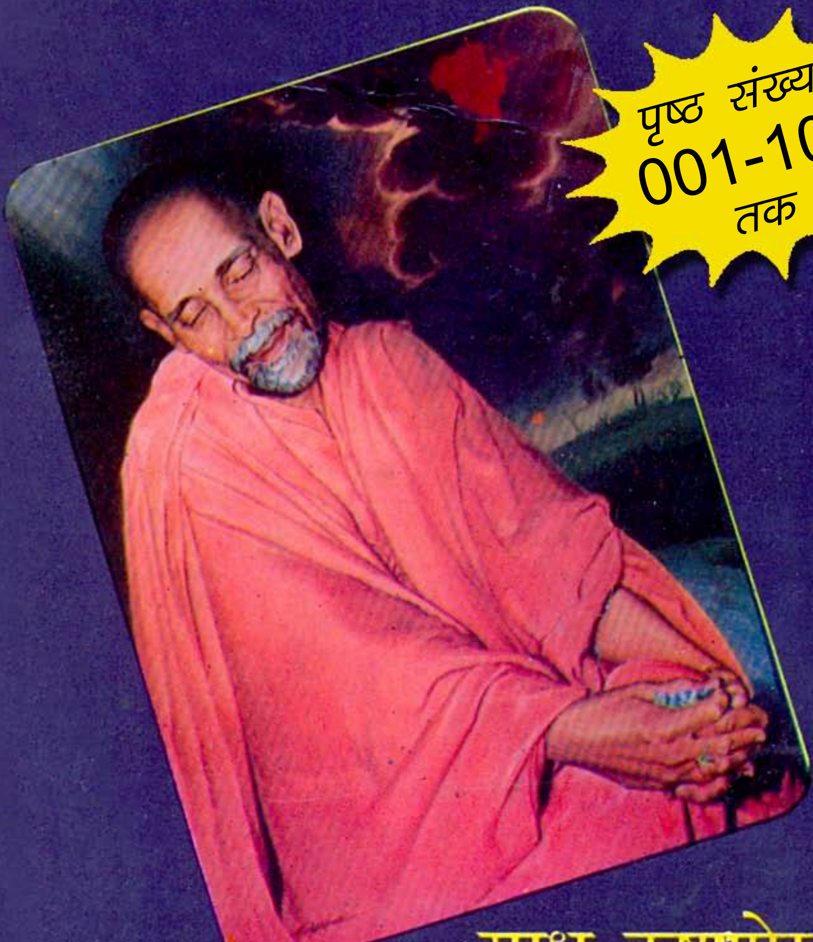

साधु कृष्णप्रेम

इस रत्नगर्भामें अवगाहनकर प्राप्त करें, ये छुपे रत्न

१. आपकी ज्ञान-मूलक अभिरुचिको तुष्टि देनेवाली श्रीवल्लभलालजी गोस्वामीकी पू. श्रीराधाबाबासे वार्त्ता –

"ब्रह्मज्ञानका ककहरा"

२. नास्तिकता एवं भगवद्विषयक संदेहोंके निवारणार्थ नाजिम साहब एवं मुंसिफ मजिस्ट्रेट आदिकी वार्त्ता –

"भगवान्‌की सत्ता और महत्ता"

३. भक्ति-भावनाओंको निश्चयही परिपक्व करनेवाले हैं – पू. श्रीराधाबाबाके कलकत्तेके प्रवचन

४. एक सन्यासी भक्तकी रहनीकी झलक पाइये – पू. श्रीराधाबाबाके अग्रज भ्राताओंको लिखे पत्रोंमें

५. पू. श्रीराधाबाबाके श्रीहरिकृष्णदासजी गोयनकाको लिखे गहन तत्त्व-विचारोंसे भरे पत्र आपको भगवन्मार्गकी दिशा देनेमें समर्थ हैं

६. सरस-रससाधनाकी झाँकी लीजिये – श्रीमोहनलालजी झुनझुनूवाला एवं व्रजवास करनेवाले भक्तोंके पत्रोंमें

७. व्रज-रससाधनाका जीवन्त-चित्रण – श्रीशिवभगवान्‌जी फोगलाके पत्रोंमें

८. आइये, व्रजकी एक परम निराविल, गोपीसे श्रीकृष्णके पवित्रतम प्यारकी झाँकी देखें - श्रीराधाबाबाकी अपनी प्राथमिक रससाधनाके पू. पोद्दार-महाराजको लिखे –

"रसार्चनकी अरुणाई" शीर्षक पत्रोंमें

९. एक सच्चे भक्तका जगत्‌को क्या दान होता है, पढ़ें - श्रीशिवकुमारजी केडियाको उद्‌बोधित "भक्त-महिमा"के पत्रोंमें -

१०. पू. श्रीराधाबाबा तंत्र-मार्गके सर्वोच्च सिद्ध एवं न्यास-विद्याके आचार्य रहे हैं। उनको क्रोध-भट्टारक महर्षि दुर्वासाके दर्शन हुए। उनकी तंत्र-साधनाके ये अनमोल प्रसंग मिलेंगे –

"पू राधाबाबाकी मातृ-साधना" नामक खण्डमें

महाभाव-दिनमणि
श्रीराधाबाबा

(द्वितीय एवं तृतीय खण्ड)

वार्त्तायें, प्रवचन, पत्राचार एवं मातृसाधना

साधु कृष्णप्रेम

प्रकाशक :

साधु कृष्णप्रेम

अध्यक्ष, श्रीमती विमलाबाई चैरिटी ट्रस्ट
षोडशगीत मंदिर, अनाथालयके पीछे, बीकानेर–३३४ ००१ (राजस्थान)

राधामाधव प्रकाशन, षोडशगीत मंदिर,
अनाथालयके पीछे,
बीकानेर

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

श्रीराधाष्टमी, श्रीकृष्ण सं. ५२२२
(२० सितम्बर, १९९६)

प्रथम प्रकाशन ११०० प्रतियाँ

न्यौछावर रु. १५१

लेजर टाईप सेटिंग :

तँवर कम्प्यूटर्स

कृपाल भैरूँ मंदिरके पास,
सर्वोदय बस्ती, बीकानेर (राजस्थान)

स्वामी कम्प्यूटर्स

फड़ बाजार, बीकानेर (राजस्थान)

मुद्रक :
आदित्य ऑफसेट, दरियागंज, नई दिल्ली

महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

द्वितीय खण्ड

(वात्तायें, प्रवचन, पत्राचार एवं मातृसाधना)

अनुक्रमणिका

क्रमांक	विषय	पृष्ठ सं.
१	**प्रथम अध्याय (वार्त्तायें)**	१
२	सार संग्रह	२
३	१. ब्रह्मज्ञान एवं भगवद्भक्तिका ककहरा (वार्त्ताकार - पं. वल्लभलालजी गोस्वामी)	३
४	२. भगवान्‌की सत्ता और महत्ता (वार्त्ताकार - चूरू नगरके तत्कालीन नाजिम, मुंसिफ मजिस्ट्रेट एवं पुलिस पदाधिकारी)	२१
५	**द्वितीय अध्याय (प्रवचन)**	४५
६	सार-संग्रह	४६
७	१. हम भगवान्‌के होजावें (ईडन गार्डन्स, कलकत्ता)	४७
८	२. स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः (गोविन्द भवन कार्यालय, कलकत्ता)	८०
९	**तृतीय अध्याय (अग्रज भ्राताओंसे पत्राचार)**	८७
१०	सार-संग्रह	८८
११	१. भगवान्‌से एकात्मता	८९
१२	२. भगवान्‌के चरणचिह्न ('अ' एवं 'ब')	११६
१३	३. भगवानके अङ्ग-प्रत्यङ्गका ध्यान	१७१
१४	४. भगवान्‌का वर्ण	१८३
१५	५. श्रीरूप-सनातन गोस्वामीयोंके त्यागमय जीवनका अनुकरण	१९३
१६	६. श्रीधाम-वृन्दावनकी एक चमत्कारिक घटना	१९९
१७	७. तत्तेनुकम्पां सुसमीक्ष्यमाणः	२०६

क्रमांक	विषय	पृष्ठ सं.
१८	८. संसारकी सच्ची सेवा	२१०
१९	९. स्मर्त्तव्यं सततं विष्णुः	२१५
२०	१०. बेटी किशुनपियारीका भवद्धाम-प्रवेश	२२०
२१	११. भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारका छायावत् संग	२२२
२२	१२. पूज्या माँकी सच्ची सेवा	२२६
२३	१३. भगवन्नाम-महिमा और नामीसे नामकी एकता	२३०
२४	१४. सकल लोक माँ सहुँने वन्दे	२३६
२५	१५. उमा राम सुभाउ जेहिं जाना	२४०
२६	१६. भोगोंमें सुख नहीं है	२४८
२७	१७. भगवान्का आश्रय एकमात्र कर्त्तव्य	२५४
२८	१८. मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु	२६३
२९	**चौथा अध्याय (श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दकाके पत्र)**	२८५
३०	**सार-संग्रह**	२८६
३१	१. नाम-संकीर्त्तनका तात्विक विवेचन	२८७
३२	२. कर्त्ता कौन है	२९२
३३	३. समाधि-अवस्थामें क्या सच्चे भगवद्दर्शन होते हैं	२९५
३४	४. महाजनो येन गतः स पन्थाः	२९८
३५	५. भगवान्ही पूर्ण योगी हैं	३००
३६	६. महाशक्ति निष्क्रिय होनेसे, ब्रह्ममें एक है, परन्तु भगवान्में वह उनसे पृथक्, उनकी दासी है	३०२
३७	७. विभूतियोंके दर्शनसे विश्वास पुष्ट होता है	३०५
३८	८. लीलाका प्रकाश चिदाकाशमें ही संभव है, चित्ताकाशमें नहीं	३०९
३९	९. वृन्दावन मायातीत भूमि है, मानस-भूमि नहीं	३११
४०	१०. सेठजी जयदयालजीकी पारमार्थिक स्थिति	३१३
४१	११. ब्रह्मकर्म, निष्कामकर्म तथा ज्ञानोत्तर प्रीति	३१७
४२	**पाँचवाँ अध्याय (व्रजभावके रसमय पत्र)**	३२१
४३	**सार-संग्रह**	३२२
४४	१. 'सुमिरो नटनागरवर' पदकी लीला-भावना	३२३
४५	२. प्रीतम छबि नयनन बसी परछबि कहाँ समाय	३३०
४६	३. संतका अखण्ड नित्य संग कैसे हो	३३५

क्रमांक	विषय	पृष्ठ सं.
४७	४. श्रीकृष्ण कल्पना नहीं, वस्तुतः सत्य हैं	३३८
४८	५. भक्त मानदासजीका रोचक प्रसंग	३४१
४९	६. मेंहदी सेवा	३४५
५०	७. कब इन नयननि निरखिहौं वदन-चन्दकी कान्ति	३५६
५१	८. नींद तोहि बेचूँगी आली	३५८
५२	९. तुलसी-पूजन	३६२
५३	१०. तनहिं राखु सत्संगमें मनहिं प्रेमरस भेव	३६५
५४	११. सच्चा वृन्दावन वास	३६७
५५	१२. वृन्दावन बसि यह सुख लीजै	३७०
५६	**छठा अध्याय (रसार्चनकी अरुणाई)**	३७३
	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारको पत्र	
५७	१. प्रियानुरागिणी दीना	३६५
५८	२. योऽहं ममास्ति यत्किंचित्	३८०
५९	३. वचन-माधुरी मुरली-श्रवण	३८३
६०	४. मेरा भाव-संसार भावोंके झंझावातसे प्रकट होता है	३८५
६१	५. मैं जो हूँ, वही वे हैं	३८८
६२	६. मन-इन्द्रियोंसे जो कुछ भी ग्रहण होता है सभी श्रीकृष्ण हैं	३९२
६३	७. इस मोर-मुकुटीका कलेवर ही मेरी समग्र सम्पदा है	३९४
६४	८. वन-श्री क्यों फूली है	३९८
६५	९. प्रिये ! आज तुम्हारा जन्मदिवस है	४००
६६	१०. तुम इतने सुन्दर क्यों हो	४०२
६७	११. क्या तुम मुझे अप्राप्त हो	४०५
६८	१२. प्रेम किसको कहते हैं	४०७
६९	१३. वे ही वे, वे ही वे	४०९
७०	१४. प्रभात-जागरण	४११
७१	१५. कामेश्वर अंकोपरि	४१२
७२	१६. मयूर मुक्तामणियाँ	४१४
७३	१७. एकमात्र वह मयूर-मुकुटी ही मेरा है	४१७
७४	१८. जैसे पीताम्बर, मोरमुकुट, वेणु उनकी है, उसी प्रकार मैं भी उनकी ही हूँ	४१९
७५	१९. भाईजी आप पारस-मणि हैं	४२१

क्रमांक	विषय	पृष्ठ सं.
७६	२०. तुम मुझे इतना क्यों प्यार करते हो	४२४
७७	२१. प्रीतिका धरातल	४२६
७८	२२. प्रेमदेशकी ओर	४३०
७९	२३. पुष्प-चयन	४३२
८०	२४. कैसे धैर्य रखूँ	४३४
८१	२५. मेरे जाग्रत एवं स्वप्नको ही नहीं, वे अपने आलिंगनमें मेरी निद्राको भी लिपटाये हैं	४३६
८२	२६. प्रियतम इतने प्रेम-परवश हैं	४३९
८३	२७. वे यदि मुझसे पाप करते हैं तो वह अनंत पुण्योंसे भी अधिक मंगलमय है	४४१
८४	२८. जिस मिलनको मात्र पलकका गिरना विरह करदे, वह काच का महल ही तो है	४४२
८५	२९. उस समय मात्र वे मेरे अपनत्वके ही आस्वादन होते हैं	४४५
८६	३०. निरावरित मिलनमें ही उनका प्रेमास्वादन संभव है।	४४७
८७	३१. तुम मेरे सदैव रहोगे ही	४४८
८८	३२. मेरा असली सौन्दर्य तो मात्र प्रीति है	४५१
८९	३३. रसहीन छिलका भी कहीं स्वादिष्ट होता है	४५३
९०	३४. क्या तुम 'तुम' ही रटते रहोगे, तुम तो परत्व है	४५४
९१	३५ अन्तःप्राकट्य	४५६
९२	**श्रीराधारानीकी महाभावो॰॰क्तियाँ**	
९३	३६. मैं तो मात्र उनका सुख सजाती हूँ	४५८
९४	३७. मंजूरी ! तनका त्याग 'त्याग' होता ही नहीं है।	४६१
९५	३८. अनुशासन	४६२
९६	३९. संयोग-वियोग कुछ होता ही नहीं	४६४
९७	४०. प्राणेश्वरी ! क्या मैं तुझे छोड़कर कहीं जा सकता हूँ	४६६
९८	४१. मैं यमुनाके पार जा ही नहीं सकता था	४६८
९९	४२. कीर्त्तिदाके यहाँ जन्म लेनेपर भी मेरा वहाँ जन्म हुआ ही नहीं	४७३
१००	४३. उनका कुछ तो मेरे पास है - संयोग नहीं वियोग ही सही	४७५
१०१	४४. मैं उनकी थी, उनकी हूँ, उनकी ही रहूँगी	४७८
१०२	४५. प्रेम-रहस्य	४८१

क्रमांक	विषय	पृष्ठ सं.
१०३	४६. मैं तो प्रीति-पिपासिनी कृष्णा-चातकी हूँ	४.४
१०४	४७. इन भावनाओंको लिपिबद्ध मत कर	४८७
१०५	**सातवाँ अध्याय (भक्त-महिमा)** (श्रीशिवकुमारजी केडियाको पत्र)	४८९
१०६	सार-संग्रह	
१०७	१. श्रीशिवकुमारजी केडियाका वंश एवं जीवन-परिचय	४९०
१०८	२. भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारका सर्वदेवमय स्वरूप	४९१
१०९	३. यः कर्माणि सन्यसति ततो निर्द्वन्द्वो भवति	५००
११०	४. भाईजी और श्रीकृष्ण	५०२
१११	५. भाईजीकी दृष्टिमें आते ही सब श्रीकृष्ण हो जाते हैं	५०६
११२	६. वृद्धा गृह-सेविकाको विलक्षण बुद्धियोगका दान	५०७
११३	७. कुत्तेकी योनिसे भगवल्लीलालोकमें	५११
११४	८. सच्चे सन्त कभी निराश नहीं करते	५१६
११५	९. कर्मकाण्डी ब्राह्मण देवतापर अनचाही कृपा	५२१
११६	१०. युवक डाक्टरपर कृपा	५२७
११७	११. नगरसेठपर कृपा	५३०
		५३५
	महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा (तृतीय खण्ड)	
११८	**प्रथम अध्याय (अन्य लोगोंसे पत्राचार)**	१
११९	सार-संग्रह	२
१२०	१. महापुरुषोंकी महिमाका ज्ञान (श्रीहनुमानजी ठर्डको लिखे पत्र)	३
१२१	२. शुद्ध अन्नसे ही शुद्ध मन संभव है (श्रीहनुमानजी ठर्ड)	८
१२२	३. भगवान् कृपा करते ही हैं (श्रीरामेश्वरजी मुकलानिया)	१२
१२३	४. जगत्‌की भूलें (श्रीरामेश्वरजी मुकलानिया)	१५
१२४	५. सन्तके सम्मुख सन्देह नहीं रहते	२०

क्रंमाक	विषय	पृष्ठ सं.
	(श्रीरामेश्वरजी मुकलानिया)	
१२५	६. वृत्तियोंको भगवन्मयी बनानेकी साधना (श्रीजयदयालजी कसेरा)	२५
१२६	७. प्रभुके लिये द्वार खोलें (श्रीजयदयालजी कसेरा)	३२
१२७	८. मनारे, करु माधवसौं प्रीत (श्रीज्वालाप्रसादजी कानोड़िया)	३५
१२८	**दूसरा अध्याय** **(श्रीशिवभगवानजी फोगलाको लिखे पत्र)**	४४
१२९	**सार-संग्रह**	४५
१३०	९. आपका मन जहाँ है, वहीं आप हैं	४६
१३१	१०. व्रज सम्बन्धी पाँचहजार वस्तुओंका ध्यान करें	४९
१३२	११. जपके साथ लीलाओंका ध्यान करें	५२
१३३	१२. भगवान् सर्वत्र हैं	५६
१३४	१३. अपने तो मात्र भगवान् हैं	५९
१३५	१४. नाम-जप सब कार्य कर देगा	६१
१३६	१५. या तो जगत्को सर्वथा भूल जायें या मनके सामने वृन्दावन नाचता रहे	६४
१३७	१६. नित्य वस्तुमें मन डुबोइये	६८
१३८	१७. भगवान् स्वयं सबकी सँभाल करते हैं	७२
१३९	१८. प्रार्थनासे दोषोंको दूर करें	७६
१४०	१९. प्रेम-प्राप्तिके लिये आवश्यक सात साधनाएँ	७९
१४१	२०. मात्र भगवान्का एक नाम लेनेसे ही जीव तर जाता है	८४
१४२	२१. असली सन्तकी पहचान	८७
१४३	२२. मनसे, वचनसे एवं दृष्टिसे जो कुछ ग्रहण होता है - सब भगवान् हैं	९५
१४४	२३. भगवान्में सुख ही सुख है	१०३
१४५	२४. ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसे भगवान् नहीं दे पावें	११८
१४६	२५. अन्तर्मुख रहकर प्रत्येक वृत्तिको भगवान्से जोड़ें	१२५
१४७	२६. प्रेम ही सचमुच सार है	१२९
१४८	२७. ब्रह्मप्राप्त पुरुषोंमें व्रजभावका उन्मेष हो -	१३३

क्रंमाक	विषय	पृष्ठ सं.
	यह आवश्यक नहीं	
१४९	२८. जो राधा हैं - वे ही श्रीकृष्ण हैं	१३६
१५०	२९. तत्त्व-निर्णयके झगड़ेमें कभी नहीं पड़ें	१४४
१५१	३०. व्रजलीला अनन्तानन्त है	१५५
१५२	३१. कृपाकी बाट जोहैं	१६८
१५३	३२. भगवद्गुणानुवाद-श्रवणसे प्रेम प्रकट होता है	१७६
१५४	३३. महात्माओंकी दृष्टि पड़ते ही जीवन सुधर सकता है	१८१
१५५	३४. भगवान् भक्तवाञ्छा-कल्पतरु हैं	१८७

प.पू.श्रीराधाबाबाकी मातृ-साधना

१५६	१. गुरुवरण	१९३
१५७	२. भगवतीका संक्षिप्त परिचय	२०३
१५८	३. भगवती त्रिपुरसुन्दरीकी साधनाका प्रयोजन	२१८
१५९	४. प्रातःस्मरण	२२३
१६०	५. ध्यान एवं स्तुति	२२७
१६१	६. मानस-पूजा	२३९
१६२	७. श्रीपुरवर्णन	२७४
१६३	८. महायागक्रम	२९९
१६४	९. पुष्पाञ्जलिमंत्र	३२६
१६५	१०. श्रीराधाबाबाकी तंत्रसाधनाके मुख्य स्तोत्र	३२९
१६६	(अ) श्रीसूक्त	३३०
१६७	(आ) सौभाग्याष्टोत्तरशतनामस्तोत्रम्	३३२
१६८	(इ) श्रीललिताष्टोत्तरशतनामावलिः	३३५
१६९	(ई) श्रीललितासहस्त्रनामावलिः	३३९
१७०	(उ) श्रीललिता त्रिशतीस्तोत्र नामावलिः	३५७
१७१	११. दुर्वासाऋषिका दर्शन	३६३
१७२	१२. न्यासविद्याके परमाचार्य श्रीराधाबाबा	३७६
१७३	१३. शक्तिसाधना सम्बन्धी प्रश्नोत्तर	३८६
१७४	१४. पराम्बाका साक्षात्कार	४०१
१७५	१५. व्रजरज उडि मस्तक लगै	४१२

चित्र-सूची

(बहुरंगे चित्र)

मुखपृष्ठ – महाभाव-निमग्न श्रीराधाबाबा

द्वितीय खण्ड

पृष्ठ संख्या

१. ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्	१
२. श्रीराधाबाबाके अग्रज-भ्राता	९७
३. श्रीकृष्ण-चरण	११७
४. भगवान् नारायणके अंशावतार, ज्ञानके सूर्य सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दका	३१३
५. श्रीपोद्दारमहाराज एवं राधाबाबा	३७३
६. श्रीपोद्दारमहाराज	४८९

तृतीय खण्ड

७. ललिताम्बामयीं धर्ममातरम्	१९३
८. भगवती परा अम्बिकादेवी एवं श्रीयंत्रराज	२०३

कवरपेजका पृष्ठ-भाग – स्नेह-सिन्धु श्रीराधाबाबा

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्

महाभाव-दिनमणि

श्रीराधाबाबा

द्वितीय-खण्ड

(वार्त्तायें, प्रवचन, पत्राचार एवं लेख)

प्रथम अध्याय

(वार्त्तायें)

१. ब्रह्मज्ञान एवं भगवद्भक्तिका ककहरा

वार्त्ताकार – पं. वल्लभलाल गोस्वामी

२. भगवान्‌की सत्ता और महत्ता

वार्त्ताकार – चूरू नगरके नाजिम, मुंसिफ
एवं पुलिस पदाधिकारी

सार संक्षेप - १

जैसे विभागरहित सूर्यका तेज, किरणोंके रूपमें पृथक्-पृथक् अनुभव होता है, जैसे लहराता हुआ एक समुद्र, लहरोंके रूपमें भिन्न-भिन्न लहरें हैं, ऐसा प्रतीत होता है, जैसे विभागरहित स्थित हुआ महाकाश घटोंमें पृथक्-पृथक्की भाँति प्रतीत होता है, वैसे ही सब भूतोंमें एक ही रूपसे स्थित भगवान् पृथक्-पृथक्की भाँति प्रतीत हो रहे हैं ।

x x x

यह तन-मन जो भी आपको दिखता है, सब एकमात्र उनकी ही संपत्ति तो है। जैसा रखना चाहेंगे, रखेंगे। ऐसा कौन है जो उनकी हेतुरहित परम मंगलमयी इच्छामें अपनी टाँग अड़ा सके ? यदि कोई टाँग अड़ानेकी चेष्टा करेगा, तो उसकी टाँग टूटेगी ही। जीवन तो वे जैसा विधान करेंगे, वैसे ही चलेगा।

x x x

भगवान्की सत्ता ऐसी परम सत्य वस्तु है, कोई भले ही उसे न माने, मान लो, सभी उसे न मानकर नास्तिक ही हो जावें, तो भी वह विश्वके अणु-अणुमें अनादिकालसे व्याप्त थी, है एवं अनन्तकालतक ज्यों-की-त्यों व्याप्त रहेगी। हाँ, जैसे ही हमने प्रभुका आश्रय लिया, असत् वस्तु स्वतः ही हमसे छूट जायेगी।

सार संक्षेप - २

इन्द्रियजन्य ज्ञानमें जन्म है, मृत्यु है, भोग हैं, भय है, राग है, द्वेष है, दुःख है, पीड़ाएँ हैं, शरीर है, संसार है, नरक है, स्वर्ग है, काल है, कर्म है, सद्गति है, दुर्गति है, 'मैं' है, 'तू', है 'तेरा' है, 'मेरा' है।

x x x

अपनेमें शरीर-भाव धारण करनेके कारण ही आनन्दघन भगवान् संसारके स्वरूपमें दीख रहे हैं। जिस प्रकार शरीर-भाव धारण करनेसे संसारका अनुभव होता है, उसी प्रकार आत्मभाव धारण करनेपर परमात्माका अनुभव होने लगता है।

।। श्रीराधा ।।

वार्त्ता संख्या - एक (१)

ब्रह्मज्ञान एवं भगवद्भक्तिका ककहरा

उपदेशक :

प. पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

(आगे जाकर प. पू. श्रीराधाबाबाके नामसे विख्यात)

वार्त्ताकार :

पं. श्रीवल्लभलाल गोस्वामी

स्थान :
ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम, चूरू
(बीकानेर राज्य)

दिनांक :
बसन्त ऋतु, वि. सं. १९९३
तदनुसार, सन् १९३७ ई.

प्राप्ति-सूत्र :
श्रीवल्लभलालजी गोस्वमीकी
डायरीके अंश

आलोक

ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रमका वार्षिकोत्सव हो रहा है। भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज, श्रीजयदयालजी गोयन्दका, श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी प्रभृति अनेक लोग बाहरसे पधारे हैं। ग्रामके अनेक सेठ-साहूकार भी सम्मिलित हैं।

सन्दर्भ

तत्कालीन बीकानेर राज्यान्तर्गत चूरू नामक शहर है। रेलवे स्टेशनके पार्श्वमें ही ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रमका भवन एवं उसकी चारदीवारीयुक्त विस्तृत भूमि है। इसी आश्रममें भवनसे दूर, एकान्त स्थलमें निर्मित एक कुटीनुमा झोंपड़ीमें काष्ठके तखतपर एक अति साधारण ऊँटके बालोंसे निर्मित कम्बलका आसन बिछा है। आसनपर सन्यासी वेष धारण किये एक तरुण युवक ध्यानस्थ आसीन है। कुटियाके शेष स्थलमें एक टाटकी दरी बिछी है। तरुण सन्यासी, सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके साथ गोरखपुरसे उत्सवमें पधारे हैं। सन्यासीके तखतके पार्श्वमें कोनेमें एक काष्ठकी चौकीपर मृत्तिकापात्रमें जल भरा है। जलपात्रके पार्श्वमें सन्यासीका काष्ठ-निर्मित कमण्डलु है।

कमण्डलुको जल छाननेके स्वच्छ वस्त्रसे आवृत किया हुआ है।

सन्यासी महात्माकी वय बीस-पचीस वर्षके लगभग है। कक्षका द्वार उढ़का है। कोई अर्गला नहीं लगायी गयी है।

प्रश्नकर्त्ता पूर्वानुमति लेकर यथासमय उपस्थित हुए हैं। प्रश्नकर्त्ता भी उत्सवमें अतिथि ही हैं। वे भूमिपर ही बिछी टाटकी दरीपर निश्शब्द शान्त बैठ जाते हैं। समागत सज्जन ध्यानस्थ तरुण सन्यासीके तेजस्वी मुखमण्डलको निर्निमेष देखने लग जाते हैं। सर्वत्र विलक्षण शान्ति है। उत्तमोत्तम तीर्थस्थलों की समग्र पवित्रता मानो पुंजीभूत हुई, इसी स्थलमें एकत्रित हो – समागत अतिथि ऐसे निर्मल वातावरणको पाकर मुग्ध है। इस युवक सन्यासीकी शान्त एवं ध्यानस्थ मुद्रा निरखता हुआ समागत अतिथि निम्न विचारोंमें खोया है :– ''अहा ! कितना शान्तिदायक वातावरण है। समग्र प्रापञ्चिक रजोगुण एवं तज्जन्य मनोगत अशान्ति जैसे इस कक्षके बाहर ही अवरुद्ध है। इस सन्यासीके कलेवरसे निःसृत घना सत्वप्रवाह जैसे उसे बरबस भीतर प्रवेश ही नहीं होने देता। कैसा पवित्र इस युवकका मुखमण्डल है। इसकी निर्मल दृष्टिसे अजस्त्र आत्मीयताकी पवित्र धारा प्रसरित हो रही है। कोई भी व्यक्ति इस तपस्वीको देखकर यही अनुभव करेगा, जैसे उसका अपना चिरकालसे बिछुड़ा परम स्नेही आत्मीयजन पुनः मिल गया हो।'' आगत अतिथि इन्हीं विचारोंमें मग्न है। सहसा उसे खाँसी आ जाती है। वह उसे रोकनेकी चेष्टा करनेपर भी रोक नहीं पाता। तरुण महात्मा किसी अन्य प्राणीकी उपस्थिति अपने कक्षमें अनुमानितकर अपने ध्यान-निमीलित नेत्र उन्मीलित कर देते हैं।

समागत व्यक्ति अपना परिचय देता है एवं प्राथमिक शिष्टाचार-वार्त्ताके पश्चात् अपनी जिज्ञासा निवेदित करता है।

प्रश्नकर्त्ता - ''स्वामीजी ! कल ही आपको प्रथम बार देखा था। देखते ही ऐसा अनुभव हुआ, मानों मेरा कोई अपना अति निकटस्थ स्वजन सन्यासी होकर आया है। क्या आप अपने माता-पिता, कुल-गोत्र एवं जन्मस्थानादिका परिचय देंगे ?''

तरुण महात्मा - ''मेरे आत्मस्वरूप बंधु ! आपकी आत्मीयताकी मैं स्तुति करता हूँ। परन्तु आप मेरा समग्र परिचय अपने इष्टदेव भगवान्से ही पूछ लीजिये। देखिये, इस मलिन, क्षणभंगुर नश्वर देहका परिचय भी भला क्या हो सकता है ?''

''पंचभूतोंका विकार, एक कीट जैसे जन्म धारण करता है, वैसे ही सृष्टिका एक नगण्य तुच्छ कलेवर (पिण्ड) यह भी है। प्रपञ्चमें जैसे अनेक

कीट-फतिंगे उत्पन्न होते हैं, कालकी अति सीमित क्षणिक अवस्था तक जीवित रहते हैं, फिर नष्ट हो जाते हैं, ठीक वैसे ही यह मानव-कीट भी है, जिसे 'चक्रधर' नामसे अभिहित कर दिया गया है। यह किसी मादा कीटसे जन्म लेकर इस समय देह-प्रारब्धानुसार इस राजस्थानके चूरू नामक शहरमें दिखाई पड़ रहा है। जैसे सभी कीट-फतिंगे माताकी योनिसे जन्मते हैं, अपना कालमान पूराकर एक दिन विनष्ट हो जाते हैं, इसकी भी यही गति होनेवाली है।''

''हाँ ! महापुरुषोंके सत्संगसे इतना इसे स्वल्प ज्ञान अवश्य हुआ है कि विश्वसृष्टिमें सम्पूर्ण जीवत्व भगवान् श्रीकृष्णकी ही वस्तु है।''

''भगवान स्वयं अपने श्रीमुखसे गीतोपनिषद्में कहते हैं – ''देहमें यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है।'' इसे भली प्रकार समझ लेना चाहिये। जैसे विभागरहित सूर्यका तेज, किरणोंके रूपमें पृथक्-पृथक् अनुभव होता है; जैसे लहराता हुआ एक समुद्र, लहरोंके रूपमें भिन्न-भिन्न लहरें हैं – ऐसा प्रतीत होता है । जैसे विभागरहित स्थित हुआ महाकाश घटोंमें पृथक्-पृथक्की भाँति प्रतीत होता है, वैसे ही सब भूतोंमें एक ही रूपसे स्थित भगवान् पृथक्-पृथक्की भाँति प्रतीत हो रहे हैं। और यही भगवान्के जीवात्माको अपना 'सनातन अंश' कहनेका अभिप्राय है।''

''जैसे मीठे-खारे स्वादका ज्ञान खानेवालेको ही होता है, उसी प्रकार किसी भी जीवका सत्य परिचय उसकी वर्तमान, भूत एवं भविष्यमें क्या उन्नति-अवनतिकी संभावनाएँ हैं – सभी बातें यथार्थमें सत्य तो भगवान् श्रीकृष्ण ही बता सकते हैं। मेरे अथवा आपके या किसीके भी जन्म-कर्मका सम्पूर्ण लेखा-जोखा उनके ही पास है।''

''यह तन-मन जो भी आपको दिखता है, सब एकमात्र उनकी ही संपत्ति तो है। वे इसे रोगी-दुखी, यशस्वी-अपयशस्वी, अभावग्रस्त-सम्पन्न, रोगी-नीरोगी, सुरक्षित-असुरक्षित – जैसा रखना चाहेंगे, रखेंगे। ऐसा कौन है जो उनकी हेतुरहित परम मंगलमयी इच्छामें अपनी टाँग अड़ा सके ? यदि कोई टाँग अड़ानेकी चेष्टा करेगा तो उसकी टाँग टूटेगी ही। जीवन तो वे जैसा विधान करेंगे, वैसे ही चलेगा।''

प्रश्नकर्त्ता – ''स्वामीजी ! मैंने तो सुना था कि आप शुष्क ब्रह्मवादी वेदान्ती हैं, आप श्रीकृष्णको माननेवाले भक्त कबसे और कैसे हो गये ?''

तरुण महात्मा – ''हाँ, पहले मैं भगवान्के सगुण-साकार स्वरूपको मायोपाधिक मानता था, परन्तु अब मेरे लिए ब्रह्मसत्ता और श्रीकृष्ण, दो भिन्न, प्रथक्, सत्ताएँ नहीं हैं। भगवान् श्रीकृष्णका आकार प्राकृत आकार नहीं है एवं

भगवान्में जो गुण हैं वे सभी मायाराज्यसे परे, अप्राकृत गुण हैं। यह मुझमें परिवर्तन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके सत्संगसे हुआ है। वास्तवमें सत्य यही है कि ब्रह्मभावके परिपाक होनेपर ही भगवान श्रीकृष्णकी सच्ची भक्ति प्रारंभ होती है। श्रीगीतोपनिषद्में भगवान् कहते हैं :—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।।

प्रश्नकर्त्ता - "स्वामीजी ! आपके ब्रह्मवादी वेदान्ती होनेकी पृष्ठभूमि क्या रही ?"

तरुण महात्मा - "मैंने मेरे बड़े भाई श्रीदेवदत्त मिश्रसे वेदान्तके तीनों अंग (प्रस्थान-त्रयी) पढे थे। ये तीनों अंग हैं — १. ब्रह्मसूत्र २. उपनिषद् ३. श्रीमद्भगवद्गीता। इन तीनों ग्रन्थोंके श्रीमदादिशंकराचार्यकृत भाष्य हैं। इनके पर्याप्त मननपूर्वक गहन अध्ययनके फलस्वरूप मैं निर्विवाद ब्रह्मसत्ताको माननेवाला बन गया था।"

प्रश्नकर्त्ता - "क्या आप मुझे ब्रह्मज्ञानका ककहरा संक्षेपमें बतानेकी कृपा करेंगे ? देखिये ! मुझे तो आप आस्तिक भी मत मानियेगा। पूर्वजोंकी शिक्षानुसार अष्टछाप-सूरदास, नन्ददासादिके पद-गायनका अवश्य अभ्यासी हूँ, परन्तु आन्तरिक भगवद्विश्वास नहींके बराबर है।"

तरुण महात्मा - "बन्धु ! आप सचमुच ही सरल एवं निश्छल हैं। संसारमें प्रायः मौखिक आस्तिक, ज्ञानी एवं भक्त ही दृष्टिगोचर होते हैं। कहनेको तो हजारों लोग अपनेको भगवद्भक्त एवं ज्ञानी कह देंगे, किन्तु इन हजारोंमेंसे किसी एकको भी वास्तवमें स्वरूप-ज्ञान है या नहीं, यह कहना कठिन है। वेदान्तकी पाठशालाओंमें आत्माके स्वरूपपर विचार कर लेना, पाठ पढ़ लेना, भरी सभामें जनताके समक्ष आत्मज्ञानी होकर मनोरञ्जक सुन्दर-से-सुन्दर प्रवचन कर देना सहज है, ऐसे मौखिक स्वरूप-ज्ञानी, शास्त्रीय-ज्ञानी, और दिखाऊ वैराग्य-सम्पन्न बहुत मिल जायेंगे, परन्तु यथार्थमें स्वरूप-ज्ञान होना अति कठिन है।"

"यथार्थमें स्वरूप-ज्ञान होनेपर बुद्धि ज्ञानके आलोकमें वेदान्तके पाँच महावाक्योंपर दृढ़ निश्चय कर लेती है। इसी प्रकार यथार्थ आस्तिक भगवद्भक्त होनेपर भी बुद्धि भगवान्के सम्बन्धमें इन निम्न चार विषयोंमें अति सुदृढ़ आस्थावान् हो जाती है।"

"वेदान्तके ये पाँच महावाक्य हैं — १. प्रज्ञानं ब्रह्म २. अयमात्मा ब्रह्म ३. अहं ब्रह्मास्मि ४. तत्त्वमसि ५. सर्वं खल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन । इनके अतिरिक्त उपनिषदोंमें एवं श्रीमद्भगवद्गीतामें ऐसे अन्य और भी सहस्रों वाक्य हैं,

जो वेदान्त-निष्ठाके परिपाकमें हेतु हैं। परन्तु इन सभी सिद्धान्तोंपर बुद्धिकी अखण्ड, सुदृढ आस्था जम जानी चाहिये, तभी कोई सच्चा ज्ञानी कहा जा सकता है।''

''भगवद्भक्तिके सम्बन्धमें भी भक्तकी ये निम्न चार अखण्ड, अटूट सुदृढ़तम आस्थाएँ होती हैं। ये भगवद्भक्तिकी आधारशिलाएँ या नींव हैं, ऐसा ही कहना उचित होगा। ये चार बातें हैं – भक्तको अथवा आस्तिकको अटूट-अखण्ड एवं निर्भ्रम विश्वास होना चाहये कि भगवान् सर्वत्र हैं। भक्तके इस विश्वासके अप्रतिम उदाहरण भक्तराज बालक प्रह्लाद हैं। भक्तराज प्रह्लादको उसके पिताने नंगी चमचमाती तलवार निकालकर पूछा था :–

यस्त्वया मन्दभाग्योक्तो मदन्यो जगदीश्वरः ।
क्वासौ यदि स सर्वत्र कस्मात् स्तम्भे न दृष्यते ।।
सोऽहं विकत्थमानस्य शिरः कायाद्धरामि ते ।
गोपायेत हरिस्त्वाद्य यस्ते शरणमीप्सितम् ।।श्रीमद्भा.।।७।८।१३-१४।।

''हे मन्दभाग्य ! जो तूने मेरे सिवा और किसीको जगत्का स्वामी बतलाया है, सो देखूँ तो वह तेरा जगदीश्वर कहाँ है ? अच्छा, क्या कहा – 'वह सर्वत्र है ? मुझमें, तुझमें, खड्ग एवं खम्भे में भी है', तो वह मुझे इस खम्भेमें दीखता क्यों नहीं ? अच्छा, तुझे इस खम्भमें भी दिखायी देता है ? अरे, तू क्यों इतनी डींग हाँक रहा है ? मैं अभी-अभी तेरा सिर धड़से अलग किये देता हूँ। देखता हूँ, वह तेरी रक्षा कैसे करता है ?''

''इस प्रकार अत्यन्त महाबलवान् दैत्यके सम्मुख भी – जो हाथमें खड्ग लेकर सिंहासनसे कूद पड़ा है और बार-बार झिड़कियाँ देता मारनेको उद्यत है, शान्त खड़े प्रह्लादजी भगवान्को सर्वत्र देखते हुए अविचलित निर्भय हैं। भक्तको अपने भगवान्की सार्वत्रिकतापर ऐसा ही अखण्ड अटूट विश्वास होना चाहिये। अनुकूल परिस्थितियोंमें तो हम सभी 'भगवान् सर्वत्र हैं', इस विषयपर उपदेश दे सकते हैं, परन्तु यदि झपटता हुआ सिंह मुख फाड़कर हमें चीरकर खा जाने को उद्यत दृष्टिगोचर हो और उसके अंग-अंगमें सर्वत्र भरे भगवान् हमें दीखें, तभी हमारी सच्ची आस्तिकताकी परीक्षा संभव है।''

''इसी प्रकार भक्तिकी दूसरी विश्वास-भूमि है – भगवान् सर्वज्ञ हैं। तीसरी विश्वास-भूमि है – भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं और चौथी भूमि है – भगवान् सर्वसुहृद हैं। प्रह्लादजी इन चारों विश्वासोंके पूर्णतया प्रतीक, पूर्ण-विश्वासी भगवद्भक्त कहे जा सकते हैं। जिस हिरण्यकशिपुके तनिक-से क्रोध करनेपर तीनों लोक और उनके लोकपाल काँप उठते थे, उसके सामने परम निर्भय

छोटा-सा शिशु प्रह्लाद भगवान्‌की सर्वशक्तिमत्तापर विश्वस्त कितना अविचल है ? वे हिरण्यकशिपुको ही समझा रहे हैं :-

न केवलं मे भवतश्च राजन् स वै बलं बलिनां चापरेषाम्
परेऽवरेऽमी स्थिरजङ्गमा ये ब्रह्मादयो येन वशं प्रणीताः।।
स ईश्वरः काल उरुक्रमोऽसावोजःसहः सत्त्वबलेन्द्रियात्मा
स एव विश्वं परमः स्वशक्तिभिः सृजत्यवत्यत्ति गुणत्रयेशः ।।
।। श्रीमद्भा.।। ७। ८। ८-९।।

"श्रीप्रह्लादजी कहते हैं – "हे दैत्यराजन् ! ब्रह्मासे लेकर तिनकेतक सब छोटे-बड़े, चर-अचर, जीवोंको भगवान्‌ने ही अपने वशमें कर रखा है। न केवल मेरे और आपके, अपितु संसारके समस्त बलवानोंके बल भी केवल वे ही हैं। वे ही महापराक्रमी, सर्वशक्तिमान् प्रभु काल हैं तथा समस्त प्राणियोंके इन्द्रियबल, मनोबल, धैर्य, देहबल, एवं इन्द्रियाँ भी वे ही हैं। वे ही परमेश्वर अपनी शक्तियों के द्वारा इस विश्वकी रचना, रक्षा और संहार करते हैं। वे ही तीनों गुणोंके स्वामी हैं।"

"हिरण्यकशिपु स्वभावसे ही अतिशय क्रूर था यह बात प्रह्लादजीसे अज्ञात नहीं थी। वह क्रोधमें साँपकी तरह फुफकार रहा था। परन्तु उसकी पापभरी टेढ़ी दृष्टिकी प्रह्लादजीको तनिक भी परवाह इसलिए नहीं थी, क्योंकि भगवान्‌की सार्वत्रिकता और सर्वशक्तिमत्तापर उनका भ्रमरहित, निस्सन्देह, अटूट एवं दृढ़ विश्वास था। हिरण्यकशिपु बार-बार उन्हें यमराजके घर भेजनेकी धमकी दे रहा था, परन्तु प्रह्लादजीका चित्त सर्व-सुहृद, सर्वत्र-स्थित, उनके रोम-रोमके रक्षक, सर्वात्मा, समस्त शक्तियोंके एकमात्र आधार, सर्वज्ञ भगवान्‌में पूर्णतया टिका हुआ था। इसीलिए वे अभय, पूर्ण निश्चिंत, अपने विश्वासपर अडिग थे। हिरण्यकशिपुने उन्हें मतवाले हाथियोंके मध्य फेंकवा दिया। परन्तु हाथियोंमें भी भक्तराज प्रह्लादकी पावनतम सच्ची परमात्मदृष्टिसे भगवान्‌को प्रकट होना पड़ा। उन हाथियोंमें भगवान्‌का अपार सौहार्द फूट पड़ा। उन्होंनें बालक प्रह्लादको अपनी सूँडसे उठाकर अपने शिरोदेशमें महावतके स्थानपर विराजित कर लिया। इसी तरह विषधर साँपोंका प्राणहारी विष भगवत्सत्ताके अखण्ड दर्शनसे प्रह्लादजीके लिये अमृत हो गया। पुराहितोंके द्वारा उत्पन्न कृत्या राक्षसीमें भी भगवत्सत्ताका अभाव थोड़े ही था। प्रह्लादजीकी आस्तिक दृष्टिसे कृत्या स्नेहमयी जननी बनी, भक्तराजको वात्सल्यदान देती हुई निहाल हो गयी। श्रीप्रह्लादजीको मारनेका हिरण्यकशिपुको कोई उपाय नहीं सूझ रहा था, क्योंकि उसके रक्षक भगवान् थे।"

"मेरे आत्मस्वरूप बन्धु ! निष्ठा बड़ी वस्तु होती है। हमारी निष्ठा सुदृढ़तम होनी चाहिये। चाहे वह निर्गुण-निराकार-निर्विशेष ब्रह्मपर हो अथवा सगुण-साकार-सविशेष भगवान्पर हो। जैसी सगुण-साकार भगवत्सत्तापर प्रह्लादजीकी अमोघ, अखण्ड आस्था थी, वैसी ही निर्गुण-निर्विशेष ब्रह्मपर ज्ञानी महात्मा जड़भरतजीकी आस्था थी। उनके लिये **'प्रज्ञानं ब्रह्म'** यह श्रुति अविचल निष्ठाकी हेतु थी। **'अयमात्मा ब्रह्म'** की अमोघ निष्ठा-भावनासे भरी उनकी बुद्धि सच्चिदानन्द-भावमें सदा डूबी ही रहती थी; किसीकी बुद्धि ही जब बुद्धिसे परे ब्रह्मानन्दमें पूर्णतया निमज्जित रहेगी, तो स्वाभाविक ही बुद्धिकी निर्विकारताका प्रभाव मन-इन्द्रियोंपर पड़ेगा ही। अतः जड़भरतजीकी मन-इन्द्रियाँ भी धीरे-धीरे दृश्यकी सत्ताको ही अस्वीकारकर ब्रह्मानन्दमें डूबने लगीं। हमारा मन यदि दृश्याकार नहीं हो, तो दृश्यसत्ता इन्द्रियोंको दिखायी ही नहीं पड़ सकती। जैसे स्वप्नकालमें कहीं कोई दृश्य नहीं होनेपर भी जाग्रत् अवस्थाके संस्कारोंसे युक्त मन दृश्याकार हुआ अनन्त काल्पनिक, किन्तु स्वप्नकालमें सत्यवत् प्रतीत होनेवाले मिथ्या दृश्योंका सृजन कर लेता है, उसी प्रकार जाग्रत् अवस्थामें भी यह प्रापञ्चिक जगत् बिना हुए ही, विषयाकार वृत्तियोंके कारण मन-बुद्धिमें भासित हो रहा है। यह आभास तभीतक है, जबतक हमारी बुद्धि ब्रह्माकार नहीं होती। उसे ज्योंही **'प्रज्ञानं दृश्य'** के स्थानपर **'प्रज्ञानं ब्रह्म'** -- यह ज्ञान होगा, त्योंही वह दृश्यकी असत्ताका निश्चय करके परब्रह्मकी सच्चिदानन्दमयी सत्तामें डूब जायगा। अभी हम मात्र केवल वाणीसे पढ़े-पढ़ाये महावाक्य उच्चारण कर लेते हैं, परन्तु हमारी वाणीका यह उच्चारण मन-बुद्धिकी निष्ठा बनना तो दूर, उनके विश्वासकी भूमिका संस्पर्श भी नहीं कर पाता है। यदि मन कामातुर हो रहा है, तो प्रज्ञानमें इन्द्रिय-सुखकी सत्ताका ही आधिपत्य जमा है, नेत्र सुन्दर स्त्रीकी सत्ताको सत्य दिखा रहे हैं, तो क्या नेत्रोंका ज्ञान प्रज्ञानसे भिन्न है ? प्रज्ञान ही तो मूलस्रोत है, जिससे इन्द्रियाँ, बुद्धि, मन, सभी अस्तित्व पा रही हैं। प्रज्ञान जब नानात्वका, अनेकत्वका मिथ्या बोध कर रहा है, तब वह ब्रह्म केवल बातोंसे थोड़े ही हो जायेगा। जैसे ही प्रज्ञान ब्रह्माकार हुआ, मन एवं इन्द्रियाँ जगदाकार रह ही नहीं सकतीं। अतः जड़भरतजीको मानापमानका अनुभव ही नहीं होता था। उन्हें लोग पागल, नर-पशु, मूर्ख अथवा बहरा कहकर पुकारते, परन्तु उनकी बुद्धि इतनी प्रगाढ़तासे ब्रह्मभावमें रमी रहती कि इन सब उक्तियोंकी उनमें कोई प्रतिक्रिया ही नही होती। उनकी जीभ जरा भी स्वाद नहीं देखती, जो भी प्राप्त होता उसे क्षुधानिवृत्तिके लिये उदरस्थ कर लेती। भिक्षान्न प्राप्त करनेकी उनमें कोई अहंकारगत कामना भी नहीं होती। स्वभावतः शरीरको

प्रारब्धानुसार जो मिलता, शरीर अपनी स्वभाव-चेष्टासे उसे उदरमे डाल लेता। श्रीमद्भागवतकार कहते हैं :– ***"नित्यनिवृत्तनिमित्तस्वसिद्धविशुद्धानुभवानन्दस्वात्माधिगमः सुखदुःखयोर्द्वन्द्वनिमित्तयोरसम्भावितदेहाभिमानः ।।५।९।९।"***

"अन्य किसी भी हेतुसे उत्पन्न नहीं होनेवाला स्वतःसिद्ध केवल प्रज्ञानानन्दस्वरूप आत्मज्ञान उन्हें प्राप्त हो गया था। इसलिये शीतोष्ण, भूख-प्यास, रोग-शोक, मानापमान आदि द्वन्द्वों और संयोगोंसे होनेवाला सुख-दुःखस्वरूप अनुभव उन्हें नहीं होता था। सुख-दुःखादिमें उन्हें देहाभिमानकी स्फूर्त्ति ही नहीं होती थी। सर्दी, गरमी, वर्षा और आँधीके समय उनका देह साँडके समान नंगा ही पड़ा रहता था। वे न तो स्नान करते थे, न तेल-उबटन ही लगाते थे। शरीरपर मैल जम जाता था। उनकी कमरमें मैला-कुचैला कपड़ा लिपटा रहता। इस प्रकार प्रारब्धानुसार शरीर चाहे जैसी अवस्थामें रहे, उनका मन आत्मतेजमें सूर्यवत् आलोकित रहता था। शरीरको प्रारब्धानुसार चावलकी कणी, खली, भूसी, घुने हुए उड़द अथवा बरतनोंमें लगी जले अन्नकी खुरचन, जो भी मिल जाती, वे उसीको अमृतके समान स्वाद लेकर खा लेते।"

"एक बार डाकुओंके सरदारने पुत्रकी कामनासे भगवती भद्रकालीको मनुष्यकी बलि देनेका संकल्प किया। इसी समय दैवयोगसे अकस्मात् डाकुओंकी दृष्टि जड़भरतजीपर पड़ गयी। जड़भरतजी तो एक खेतकी मेंडपर बैठे अपने स्वाभाविक प्रशान्त आनन्दस्वरूप प्रज्ञानमें डूबे थे। डाकू उन्हें रस्सियोंसे बाँधकर चण्डीमन्दिर ले गये। परन्तु जड़भरजीको सर्वत्र मात्र **'प्रज्ञानं ब्रह्म', 'सर्वंखल्विदं ब्रह्म, नेहनानास्ति किञ्चन'** के अतिरिक्त कुछ अनुभव हो, तब न कोई भय हो। भय तो द्वितीयकी सत्ता दीखनेपर ही होता है।" श्रुति कहती है :– ***"द्वितीयाद्वै भयं भवति । उदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति ।"***

"श्रीजड़भरतजीमें एक अखण्ड आत्मस्वरूप, अपने आपेके सिवा द्वैतकी कल्पना ही नहीं थी। जब कुछ भी द्वैतकी भावना मनुष्यके अन्तःकरणमें होती है, तभी उसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, विषाद, चिन्ता, दुःख, मृत्यु आदि शरीरभाव भासित होते हैं। यह संसार-दृश्य द्वैत एवं अज्ञानसे ही उत्पन्न होता है। जब न द्वैत है, न अज्ञान है, तो जड़भरतजीके लिये परमार्थसत्ता ही व्यवहार हो गयी थी, अतः उन्हें एक ही परमात्मा, जो सूर्य, चन्द्र, देवी, देवता, भ्रदकाली, चण्डी, रुद्र, भैरव एवं यमराजमें था, वही सर्वत्र डाकुओंमें भी एवं अपनेमें भी समानरूपसे भरा दृष्टिगोचर हो रहा था।

श्रुति कहती है :–

"स यश्चायं पुरुषः यश्चासावादित्ये, स एकः। सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।"

अर्थात्, इस पुरुषके भीतरका आत्मा एवं सूर्यके भीतरका आत्मा एक ही है। ज्ञानीको सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके भूत-पदार्थ आत्मरूप ही दिखायी पड़ते हैं।"

"फिर ऐसे सर्वत्र अपनेको ही देखनेवाले, सच्ची आत्मनिष्ठाकी ज्योतिसे सतत उद्भासित महात्मा जड़भरतजीको कहाँ शोक, कहाँ दुःख, भय, अज्ञान एवं मृत्युकी चिन्ता थी ? उन्हें जड़ शरीर और उसके काटे जाने, बलि दिये जानेका कोई बोध ही नहीं था। ***ऊधो मन न भये दस बीस*** प्रत्येक प्राणीके शरीरमें दस–बीस मन तो होते नहीं। एक मन था, वह **'प्रज्ञानं ब्रह्म'के** बोधमें प्रज्ञान-घन हो गया, अब 'दृश्य' और 'डाकू' और फिर 'भद्रकाली' एवं तब 'बलि' आदि इतनी सत्ताओंको मान्यता ही कौन एवं कैसे दे ? साक्षात् ब्रह्मभावको प्राप्त जड़भरतजी **'ईशावास्यमिदं सर्वम्', 'सर्वम् हि एतद् ब्रह्म'** अर्थात्, यह सारा विश्व एकमात्र परमात्मामें ही मृगमरीचिकावत् कल्पित है, और निश्चय ब्रह्म ही है, ऐसे परम पवित्र सत्य निश्चयमें डूबे बैठे थे। इन चोरोंने अपनी पद्धतिके अनुसार विधिपूर्वक उनको अभिषेक एवं स्नान कराकर कोरे वस्त्र पहनाये तथा नाना प्रकारके आभूषण, चन्दन, माला, और तिलक आदिसे विभूषितकर अच्छी तरह भोजन कराया। फिर वे धूप, दीप, माला, पत्ते, अंकुर, फल, आदि उपहार सामग्रीके सहित बलिदानकी विधिसे गान एवं स्तुति करने लगे। वे ढोल, मृदंग, झाँझ आदि वाद्योंका तुमुल शब्द करते उस पुरुष-पशुको भद्रकालीके सम्मुख ले गये। जैसे ही दस्युराजके पुरोहितने उस नर-पशुको मारनेके लिये देवीमंत्रोंसे अभिमंत्रित एक खड्ग उठाया, यह भयंकर कुकर्म देखकर देवी भद्रकालीके शरीरमें अति दुःसह दाह होने लगा। वे उसी प्रकार, जैसे हिरण्यकशिपुके सम्मुख खम्भ फोड़कर नृसिंह भगवान् प्रकट हो गये थे, मूर्तिको फोड़कर प्रकट हो गया। ठीक नृसिंह भगवान्के समान ही अत्यन्त असहनशीलता और क्रोधके कारण भौंहें चढ़ाये हुईं, लाल-लाल आँखें किये कराल दाढ़ों और चढ़ी हुई लाल आँखोंके कारण भद्रकालीका विकराल वेष भयानक जान पड़ रहा था। इस विकराल वेषमें वे इतनी कुपित थीं मानो सारे संसारका संहार कर डालेंगी।

"कहनेका इतना ही तात्पर्य है कि जहाँ भक्तमें भगवान्के वात्सल्य, सख्य एवं माधुर्यादि भावोंके आस्वादनके लिये लेशात्मक अहंकार रहता है, ज्ञानीका अहंकार सबीज परब्रह्म परमात्मामें विलीन हो जाता है। प्रारब्ध-निर्वाह करनेके लिये ऐसे ज्ञानी महात्मामें भगवान्का अहंकार ही, मात्र भरण-पोषणरूप कर्म कराता है। ऐसे ज्ञानी एवं भगवद्भक्त जिनकी देहाभिमानरूप सुदृढ़ हृदयग्रन्थि छूट गयी है, जो समस्त प्राणियोंके सुहृद एवं आत्मा हैं, जो सर्वथा विगत-वैर

हैं, साक्षात् भगवान् ही इनकी, चाहे उनका नाम प्रह्लादजी हो, अथवा जड़भरतजी, कभी न चूकनेवाले कालचक्ररूप श्रेष्ठ शस्त्रसे रक्षा करते हैं। भगवद्भक्तों एवं आत्मज्ञानी पुरुषोंके लिये ऐसे विकट अवसर आनेपर सर्वत्र अखण्ड भगवद्दर्शन करना अथवा आत्मरूपानुभव करना और किसी भी प्रकार विचलित नहीं होना, सहज स्वाभाविक ही है, यह कोई बड़े आश्चर्यकी बात सर्वथा नहीं है।"

प्रश्नकर्त्ता - स्वामीजी ! आपने भक्ति एवं ज्ञानके दो सर्वोच्च आदर्शों – श्रीप्रह्लादजी एवं श्रीजड़भरतजीके सहित इनकी प्राथमिक निष्ठाओंका बहुत ही सुन्दर निरूपण किया। दृश्यजनित राग-द्वेषका ही नहीं, ज्ञानोपलब्धिपर समग्र दृश्यका ही शश-श्रृंगवत् लुप्त हो जाना और दृष्टा एवं दृश्यके भेदसे रहित निर्विकल्प साच्चिदानंदघन ब्रह्मका ही एकरस सर्वत्र सब समय अनुभव होना, सचमुच ही विलक्षण बात है।"

"इसी प्रकार भक्तका स्वप्न, जागरण एवं सुषुप्तिमें भी अपने इष्ट भगवान्को अविस्मृत सब समय, सर्वत्र देखना, उन्हें सर्वज्ञताके अलंकारोंसे सुभूषितकर अपने ही नहीं, आब्रह्म-कीटपर्यन्त सबके अन्तःकरणोंमें पूर्ण डेरा डाले हुए अनुभव करना, भगवान्की सत्ताको स्वीकृति देते हुए उन्हें सर्वशक्तिमान् एवं सर्वसुहृद मानकर पूर्ण आत्मसमर्पणकर उनपर ही सर्वथा निर्भर एवं उनकी शरण हो जाना – ये सभी बातें सुनकर हृदय कृतकृत्य हो गया।"

"परन्तु तनिक इसपर भी प्रकाश डालिये कि शास्त्रोंमें लिखे प्रह्लादादिके उदाहरणोंके अतिरिक्त वर्तमानमें भी क्या कोई ऐसा एकान्त ब्रह्मनिष्ठ अथवा भक्तादर्श साधक एवं सिद्ध है क्या ?"

"दूसरे, इसपर भी प्रकाश डालिये कि इस भक्ति एवं ज्ञान दोनोंकी सर्वोच्च निष्ठाओंको प्राप्त करनेका सरलतम साधन क्या है ?"

तरुण महात्मा - "मेरे आत्मस्वरूप बन्धु ! वेदान्त साधनाके चार सोपान हैं। परन्तु एक बात सदा ध्यानमें रखें कि कोई भी सोपान चढ़नेसे ही लक्ष्यतक पहुँचा जा सकता है। उपनिषद्में स्पष्ट लिखा है :–

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः, न बहुना श्रुतेन, यमैवेष आत्मा वृणुते तेन लभ्यः ।"

"यह आत्मतत्त्व अथवा भगवत्तत्त्व मात्र बड़ी-बड़ी बातें बनानेसे नहीं प्राप्त होता, यह बहुत सुननेसे भी प्राप्त नहीं होता। श्रुति कहती है – 'यह उसीको प्राप्त होता है, जिसे यह अथवा जो इसे वरण (स्वीकार) करता है।' जब मनुष्य पहले धन कमानेके महत्वको हृदयंगम कर लेता है एवं ठीक पूरी निष्ठासे समझ लेता है कि परिवार-पालनके लिये अथवा संसारमें सम्मानपूर्वक जीवन-यात्रा संचालनके लिये धन परमावश्यक है, तो सम्पूर्ण जीवन, यहाँ तक कि बूढ़ा हो

जानेपर भी वह धन कमानेमें लगा रहता है। इसी प्रकार सर्वप्रथम शास्त्रोंके मननपूर्वक चिन्तन करनेसे शास्त्रज्ञानके आलोकमें मनुष्य यह निश्चय करे कि परमात्म-साधन मेरे जीवनमें कितना उपादेय और आवश्यक है।''

''अतः प्रथम सोपान है – 'सत्संग किंवा शास्त्रज्ञान।' वैसे भारतमें अनेक मठों, विद्यालयोंमें ब्रह्मसूत्र, गीता, उपनिषद् एवं वेदान्त-दर्शन पढ़ाये जाते हैं। यहाँ मनुष्य अच्छी प्रकारसे शास्त्रज्ञान प्राप्त कर सकता है। इन विद्वानोंसे पढ़नेकी अपेक्षा सचमुच ही यदि कोई वेदान्तनिष्ठ, शास्त्रको आचरणमें उतारनेवाला महात्मा मिल जाय, तो उससे शास्त्र पढ़नेसे इससे भी अधिक लाभ संभव है। किसी भी सिद्धान्तपर जिसकी जितनी अधिक निष्ठा होती है, वही अन्यको अपनी सिद्धान्त-निष्ठापर आरूढ़ करवा सकता है। परन्तु ऐसे ब्रह्मनिष्ठ सच्चे विद्वान् नहीं मिलें, तो किसी भी पाठशालामें शास्त्र पढ़नेमें कोई हानि नहीं है। इन शास्त्रोंके आदिशंकराचार्यादि अनुभूत, ब्रह्मनिष्ठ महात्माओं द्वारा किये हुए भाष्य हैं, इन भाष्योंका आस्थासहित मनन करते हुए अध्ययन किया जाय, तो महात्माओंकी क्षतिपूर्त्ति, ये भाष्य कर सकते हैं, क्योंकि इन भाष्योंमें जो तत्त्व रहस्योंका खुलासा किया गया है, वह अनुभूतिके आधारपर ही है। अतः सर्वप्रथम इस शास्त्रज्ञानके आलोकमें सद्वस्तु अथवा उपादेय वस्तु क्या है, सारकी बात क्या है और निस्सार बात क्या है, इसका निर्णय कर ले ।''

''इसी प्रकार यदि रुचि भक्तिकी ओर झुकी प्रतीत हो, तो भक्तिशास्त्र श्रीमद्भागवतपुराण, तुलसीकृत रामचरितमानसादि ग्रंथोंका खूब मननपूर्वक उत्तमोत्तम भक्तोंकी टीकाओंसहित अध्ययन करे। किसी सम्प्रदाय विशेषपर रुझान हो, तो उस सम्प्रदायके आचार्यो और उनके भगवत्प्राप्त अनुयायियोंके द्वारा लिखे ग्रन्थोंका खूब मननपूर्वक अध्ययन करे और सद्वस्तुका खूब ठोक-बजाकर निर्णय करे। सद्वस्तुका बुद्धि जब ठीक-ठीक निर्णय कर ले, तो विवेकके आश्रयसे असत्से सामंजस्य त्यागना प्रारंभ कर दे, सत्को अपना स्वभाव बना ले।

''प्रिय बन्धु ! यहाँ यह बात अच्छी प्रकार समझ लें कि सृष्टिके ऐसे जीव – जिनका मस्तिष्क विकसित ही नहीं है कि वे सत्-असत्का नीरक्षीर विवेक कर नहीं सकें, तो वे भगवान्के द्वारा क्षम्य रहते हैं, क्योंकि भगवान्के द्वारा उन्हें जो जन्म मिला है वह मात्र भोग-योनि ही है, उचित-अनुचितका विचार वे कर ही नहीं सकते। उनका मस्तिष्क ही अविकसित है। वे पशु हैं। मानव-जातिमें भी ऐसी अनेक जंगली जातियाँ हैं, जिनका ज्ञान, मात्र इतना ही विकसित है जिससे वे अपना शिकार आदि करके उदर ही भर पाते हैं, वे द्विपद पशु हैं। मानवकी शक्ल-सूरत रखते हुए भी उनके संस्कार पशुवत् ही हैं।

परन्तु जिनके उत्तम संस्कार हैं, जिनमें विद्याध्ययन करने योग्य बुद्धि है, जिनका विवेक जागरूक है, जो शास्त्राध्ययन कर चुके हैं, मानवजातिके कल्याणार्थ प्रभुकी गीतोपनिषद्, उद्धवगीतादिकी वाणी जिनके कानोंमें पड़ चुकी है, जो इनका तात्पर्य और शास्त्रोंके द्वारा प्रभुका स्नेहभरा आदेश सुन-समझ सकते हैं, वे भी यदि प्रभुके द्वारा बताये नियमोंका, शास्त्रविधिका उल्लंघन करते हैं, असत्‌का आश्रय लेते हैं, बुरे विचारों और इन्द्रियभोगोंकी प्राप्तिमें ही अपना पुरुषार्थ समझते हैं, तो मान लीजिये कि उनका घोर पतन निश्चय ही है।"

"जो वस्तु सत्य है, उसे अपने अस्तित्वकी रक्षाके लिये यह अपेक्षा नहीं रहती कि कोई उसे माने ही। हम सत्यको जानकर भी नहीं मानें, हम शास्त्रके ज्ञाता, पंडित, व्याख्याता होकर भी झूठ बोलें, दुराचरण करें, ढोंग एवं दम्भाचरण करके अर्थोपार्जन करें, हम प्रभुकी सत्ताका बखान करके भी प्रभुकी सत्ताको अपने लिये नहीं मानें, तो हमारे न माननेसे उनका, उनके सत्य विधानका तो कुछ भी नहीं बिगड़ता, हाँ, उसे आन्तरिकरूपसे न माननेसे हम सत्यनिष्ठाके द्वारा प्राप्त होनेवाले परम लाभसे सभी अंशोंमें वंचित अवश्य हो जाते हैं।"

"भगवान्‌की सत्ता ऐसी परम सत्य वस्तु है, कोई भले ही उसे न माने, मान लो, सभी उसे न मानकर नास्तिक ही हो जावें, तो भी वह विश्वके अणु-अणुमें अनादिकालसे व्याप्त थी, है एवं अनन्तकालतक ज्यों-की-त्यों व्याप्त रहेगी। हाँ, जैसे ही इस तथ्यको हमने स्वीकार किया, साथ ही प्रभुका आश्रय लिया, असत् वस्तु स्वतः ही हमसे छूट जायेगी और साथ-ही-साथ प्रभुका अनन्त आनन्द, शान्ति, कल्याणादि वैभव, उनका अनन्त बल, असीम करुणा, मैत्री, सेवादि उनके सद्गुण, उनका अपरिसीम सौन्दर्य, अथाह ज्ञान, अपार निर्लेपता, असंगता, उनका सबकुछ हमारा हो जायेगा और उन लीलामय प्रभुका रंगमंच, इस विश्वका कण-कण, क्षण-क्षणमें हमारे लिये नये-नये सुखका, आनन्दका नित्य नूतन द्वार खोलता दृष्टिगोचर होगा। किन्तु दुर्भाग्यवश सत्-असत्‌का विवेक करके भी हम कहीं असत्‌की सत्तासे ही चिपके रहे, तो जगत्‌की अगणित भोग-सामग्री हमारे पास रहनेपर भी हम दुःख-संतापसे सदा भरे ही रहेंगे। हम दुःखसे छूटनेके लिए अपनी सभी शक्ति खर्च कर देंगे, फिर भी दुःखोंकी बेलि सदा हमपर छायी ही रहेगी। एक दुःखका कारण मिटेगा, तो दो नये कारण खड़े हो जावेंगे। शरीर रुग्ण होनेपर डाक्टर-वैद्योंके पीछे अनाप-शनाप धन खर्च करेंगे, परन्तु न तो मनके रोग मिटेंगे, न तनके । सत्य यही है कि तीनों ओरसे त्रितापकी दावाग्नि हमें भस्म करने दौड़ी आ रही है। सभी ओर निराशाका घोर अन्धकार छाया हुआ है।"

"यह अटल नियम है, जहाँ हमने प्रभुकी सत्ताके विपरीत असत्का आश्रय लिया, प्रभुकी सत्ताका त्याग किया, वहीं रास्ता भटके, सुन्दर सड़कसे हटकर उधेड़-बुनके जंगलमें, बीहड़में हमारा भटकना प्रारंभ हो जायेगा। चिन्तारूपी अग्निसे सारा शरीर, मन, प्राण – सब कुछ झुलसने लगेंगे। प्रभुके परम सत्यकी अवज्ञा करनेके इस अवश्यंभावी परिणामसे राजा-रंक, ब्रह्माजीसे लेकर कीट-पतंगतक कोई भी न तो बच पाया था, न बच पाया है, न ही बच पायेगा।"

"अतएवं यह निश्चय ही मान लें, हममेंसे किसीको भी, कभी तनिक भी ऐसा अनुभव हो कि मनमें चिन्ताकी घटाएँ घिर रही हैं, जलनकी ज्वाला जल रही है, तो निश्चितरूपसे समझ लेना चाहिये कि हमारे द्वारा प्रभुकी सत्य सत्ताका अवश्य-अवश्य निरादर हो रहा है। हमारा मन सन्मार्गसे हटकर कुमार्गमें आ गया है तथा इस विपत्ति-जालसे छूटकर सन्मार्गपर आनेका एक ही उपाय है – हम जहाँ जिस परिस्थितिमें हैं, वहीं उसी अवस्थासे प्रभुकी सर्वत्र व्याप्त सत्ताको स्वीकार कर लें, सत्यका आश्रय पकड़ लें। चाहे हमें सत्यके आश्रयसे कितनी ही विपत्तियोंके आनेकी संभावनाएँ दिखें, ठीक दृढ़तासे यह मान लें कि हमारा मन हमें धोखा दे रहा है। अमृत कभी विष हो नहीं सकता; आजतक सभी गरल (विष) पीकर ही मरे हैं, अमृत पीकर किसीकी मृत्यु नहीं हुई है। प्रभुकी सत्य सत्ताका आश्रय लेते ही उसी क्षण हमें सुन्दरतम मार्ग दिख जायेगा। हमारे सभी प्रश्न हल हो जावेंगे, हमारी जलन शान्त हो जायेगी और चिन्ताएँ दूर हो जावेंगी। साथ ही अखण्ड अनुभव हो जायेगा कि प्रभुका वरद हस्त हमारे ऊपर सदा था, है एवं रहेगा।"

"सत्य वस्तुको स्वीकार करते ही प्रभुका परोक्ष अनुभव होता ही है, क्योंकि प्रभु ही सत्य हैं। उस समय हमें ठीक अनुभव होगा, इस विश्वमें कहीं कोई दुःख नहीं, कहीं किसीके लिए कोई विपत्ति नहीं, सर्वत्र, सब ओर मंगलका, आनन्दका स्रोत बह रहा है। प्रभु ही हमारे आगे हैं, वे ही हमारे पीछे हैं, वे ही हमारे ऊपर हैं, वे ही नीचे हैं, वे ही दाहिने हैं, वे ही बाँयें हैं। वे ही हमारे बाहर हैं, वे ही भीतर पूरे पूरम्पूर भरे हैं। उनसे रिक्त कहीं कोई सत्ता है नहीं, थी नहीं और हो सकेगी नहीं।"

"सत्य, ज्ञान एवं आनन्द कहाँ नहीं है, परन्तु हमारा मन इसे माने तब न ? हमें तो धन, लोभ, काम, यश, मोह आदि भ्रान्त कर रहे हैं। हमें कुछ-का-कुछ दीख रहा है। मंगलके स्थानपर हमारी भूख (चाह), माँग अमंगलकी, सतत आनन्दके स्थानपर दुःखकी होने लगती है। बस, मेरे बन्धु ! इतना ही हमें

करना है। असत्को त्यागकर सद्वस्तुकी ओर हमें मुड़ना भर है।"

"यहाँ यह सदा ध्यान रहे, यह स्थिति केवल कहने-सुननेसे होनेवाली नही है। इसके लिये हमें जीवनका पूरा दृष्टिकोण ही बदलना पड़ेगा। हमें यह ठोक-बजाकर निर्णय करना पड़ेगा कि मानव जीवनकी सार्थकता पशुकी भाँति भोग भोगनेमें नहीं, अपितु नित्य सत्य प्रभुकी अनुभूति कर लेनेमें है। हमें हमारे जीवनका लक्ष्य स्थिर करना पड़ेगा। सत्स्वरूप परमात्मासे हम निकले हैं और सत्स्वरूप प्रभुमें ही हमारा नित्य निवास होना है।

"सन्मूलाः सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदा यतनाः सत्प्रतिष्ठाः"

"हमारे मूल (उद्गम) सत्स्वरूप प्रभु हैं। सत्स्वरूप प्रभुमें ही सब सृष्टि सदा निवास करती है और अन्तमें भी हम सत्स्वरूप परमात्मामें ही प्रतिष्ठित रहेंगे।"

"इस सिद्धान्तको शरीर छूटनेसे पहले ही प्रत्यक्ष अनुभव करनेके लिये हमें कटिबद्ध होना पड़ेगा।"

"ऐसा हुआ नहीं कि परमात्माकी ओरसे निरन्तर बहनेवाली प्रेमकी धारा, करुणाकी धारा हमारे अन्दर घुसनेका मार्ग पा जायेगी। हमारे द्वार जो हमने अभी मलिन देहेन्द्रिय भोगोंकी वासनाओंके लिये खोल रक्खे हैं, उन्हें हमें ही बन्द करने पड़ेंगे। प्रभुकी ओरसे हमें यह जैविक स्वतंत्रता मिली हुई है – चाहे हम अपना मुख अविनाशी प्रभुकी ओर करें, चाहे हमारी गति दुःखालय, अशाश्वत भोगोंकी ओर करें। जबतक हम प्रभुको अपने भीतर घुसनेका द्वार नहीं देंगे, प्रभुकी कृपा हमारे चारों ओर मँडराती ही रहेगी, हमारे भीतर जोर-जबर्दस्ती करके प्रवेश कदापि नहीं करेगी। अभी तो हमने सब ओरसे अपनी अगणित इच्छाओंके कपाट लगाकर अपनेको प्रभुकृपासे वंचित रखनेका जैसे व्रत ले रखा है। प्रभुका प्रेम, उनकी कृपा हमें अपने-आपमें मिला लेनेके लिये उमड़ती है, परन्तुं सब ओरसे द्वार बन्द देखकर लौट जाती है। हमारी भोग-वासनाएँ मोहजनित 'मैं' एवं 'मेरे', 'तू' एवं 'तेरे' की रागद्वेषमयी इच्छाएँ प्रभुके मंगलमय कृपादानसे हमें वंचित कर दे रही हैं। इसीलिये हमें इन मोहमयी प्रभुविरोधी इच्छाओं, वासनाओंका त्याग करना ही पड़ेगा। अपनी इच्छा मिटाकर प्रभुकी इच्छाको अपने अन्दर व्यक्त होनेके लिए मार्ग देना ही पड़ेगा। तभी हमारे उद्देश्यकी पूर्त्ति होगी।"

"एक दिनमें ऐसा हो जायेगा, यह संभव नहीं। हमें जीवनभर अनवरत असत्से पिण्ड छुड़ाने एवं सत्स्वरूप प्रभुको अपने भीतर भरनेका प्रयास करना पड़ेगा । यह जब हो जायेगा, तभी हमें अखण्ड सत्स्वरूप प्रभुका अखण्ड परोक्ष

दर्शन होगा। परोक्ष दर्शन होनेके पश्चात् परमात्माके अपरोक्ष दर्शनमें अधिक विलम्ब नहीं होता। परोक्षानुभवमें डूबते ही साधकको यह अनुभव तत्क्षण ही होने लगता है कि परम कल्याण-निकेतन प्रभुने मुझे अपने चरणोंमें शरण दे ही दी है और मेरे आत्मनिवेदनको स्वीकार कर, वे मुझमें घुल-मिलकर एक हो गये हैं। अब उनका एवं मेरा मिलन अखण्ड, अविभाज्य, अटूट है। भगवान्के परोक्ष दर्शन होते ही भगवत्कृपाका भक्तपर ऐसा प्रवाह उमड़ता है, भगवद्वात्सल्यकी ऐसी निर्मल परमानन्दमयी लहर उठती है कि साधकका अहं, जो शेष रहकर प्रभुका दर्शन कर रहा होता है, विगलित होकर उस महामंगल एवं आनन्द-समुद्रसे एकमेक ही हो जाता है। बस, साधक ***'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'*** इस श्रुतिवाक्यको अपने भीतर चरितार्थ कर लेता है।"

"मेरे आत्मस्वरूप बन्धु ! परमात्माकी चाहे भक्ति-साधना हो अथवा ज्ञान-साधना हो, इन चार सोपानोंको पार करके ही साधक भगवत्प्राप्तिके लक्ष्यतक पहुँच सकता है, इसे ठीक समझ लें। यह मैंने आपके प्रश्नके दूसरे चरणका उत्तर दे दिया।"

"आपके प्रश्नके प्रथम चरणका उत्तर मैं यही देना चाहता हूँ कि मेरी दृष्टिमें ऐसे सन्त वर्तमानमें हैं, जिनकी स्थिति भक्तराज प्रह्लादसे भी ऊँची है। परन्तु आपका उनपर वैसा ही विश्वास होना, मेरे वशकी बात नहीं है। मेरी दृष्टिमें जड़भरतजीके समान ज्ञानी एवं प्रह्लादसे भी बढ़कर भक्त आज भी हैं; अभी मैं उनके नाम आपको इसीलिये नहीं बतलाना चाहता क्योंकि आपका मन उनके प्रति इस ऊँची कोटिकी श्रद्धा कर नहीं पावेगा। मैं अपनी किसी भी बातपर आपका अविश्वास, अश्रद्धा और सन्देह निर्माण नहीं करना चाहता। अतः मेरी इतनी ही बात मान लीजिये कि सच्चे सन्तोंसे यह धरा कभी, किसी कालमें क्षणके लिये भी वञ्चित नहीं रह सकती। जिस दिन सच्चे सन्तोंका अभाव होगा, उसी दिन यह धरा प्रलयमें डूब जायेगी।"

प्रश्नकर्त्ता - "स्वामीजी ! आपसे मिलकर सचमुच ही मैं कृतकृत्य हो गया। यह जो कुछ काल आपके साथ व्यतीत हुआ, सचमुच ही जीवनभर स्मरण रहेगा। आपकी बातें जैसे साक्षात् भगवान्के मुखसे निकली हों, उस प्रकार सटीक मेरे जीवनको पूर्णतया बदल देनेमें समर्थ हैं।"

"मैं आपका सदैव पूर्णतया आभारी रहूँगा। हाँ, एक मेरा अन्तिम प्रश्न और है। यद्यपि मैंने आपका पर्याप्त समय ले लिया है, फिर भी थोड़ा समय देकर मेरी इस गुत्थीको भी सुलझा दें।"

"हमारे सम्प्रदायमें – जो आपने उपदेश दिया, उससे उलटी शिक्षा दी

जाती है। आपने जहाँ श्रीकृष्णकी सार्वत्रिकताकी अनुभूतिपर बल दिया, हमारे श्रीकृष्ण तो इन महानताओं और चमत्कारोंसे सर्वथा ही विरहित हैं। वे तो ***'यशोदोत्संगलालित'*** हैं। वे यशोदाजीकी गोदीमें ही सदा रहते हैं। वे एकमात्र उनकी अपनी निजी सम्पत्ति हैं। इसी प्रकार हमारे श्रीकृष्णमें सर्वज्ञताका लेश ही नहीं। वे तो पेड़-पौधोंके नाम, 'गाय' किसे कहते हैं, 'घोड़ा' क्या है, 'कुत्ता' क्या है और 'चूहा' क्या है, सभी जिज्ञासायें अपनी मातासे पूछ-पूछकर निवारण करते हैं। इसी प्रकार हमें तो ऐसे श्रीकृष्णकी सेवा करना ही परमार्थ सिखाया गया है, जिसकी अभी स्वतः गर्दन ही नहीं उठती। जो मात्र **'म, म' 'त, त'** ही बोल पाता है। उसमें सर्वशक्तिमत्ता और सर्वसौहार्द जैसे गुण कहाँ हैं ?"

तरुण सन्यासी – "मेरे निश्छल बन्धु ! यह सत्य है कि आपके आराध्य श्रीकृष्ण ***'यशोदोत्संगलालित'*** दुधमुँहे शिशु हैं, परन्तु आपके ही सम्प्रदायके सूरदासादि भक्तोंको उन वर्षणोन्मुख नवजलधरके नवांकुर-सदृश स्निग्ध, तमालतरुके पल्लव सदृश मृदु, परमाकर्षणशील, सुचिक्कण, सुरभित, सर्वमनोहारी परमाराध्य बालकृष्णकी सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता और महिमाका ज्ञान नहीं हो, सो बात तो नहीं है।"

"मैं आपके सम्प्रदायके सम्बन्धमें बहुत विशेष ज्ञान तो नहीं रखता, परन्तु महाप्रभु वल्लभाचार्यने स्वयं ब्रह्मसूत्रपर अणुभाष्य लिखा है। श्रीसूरदासजीका एक पद तो गीताप्रेस द्वारा प्रकाशित पद-पुस्तिकामें छपा है, वह तो मुझे कण्ठस्थ भी है, उसमें बालक श्रीकृष्णकी महिमाका पर्याप्त वर्णन है। वह पद है :-

देखो अद्भुत अविगतकी गति, कैसो रूप धस्यौ है (हो)
तीन लोक जाके उदर बसत हैं, सो सूपके कौने पस्यौ है (हो)
जाके नाल भये ब्रह्मादिक, सकल जोग व्रत साध्यौ (हो)
ताकौ नाल छीनि ब्रजयुवती बाँटि तगासौं बाँध्यौ (हो)
जिहिं मुखकी समाधि सिव साधी आराधन ठहराने (हो)
सो मुख चूमति महरि जसोदा दूध-लार लपटाने (हो)
जिन स्रवननि जनकी विपदा सुनि गरुड़ासन तजि धावै (हो)
तिन स्रवननि है निकट यशोदा हलरावै अरु गावै (हो)
विस्व-भरन-पोषण, सब समरथ, माखन काज अरे हैं (हो)
रूप विराट कोटि प्रति रोमनि पलना माँझ परे हैं (हो)
जिँहि भुज-बल प्रह्लाद उबास्यौ, हिरनकसिपु उर फारे (हो)
सो भुज पकरि कहति ब्रजनारी, ठाड़े होउ लला रे (हो)

जाको ध्यान न पायौ सुर-मुनि, संभु समाधि न टारी (हो)
सोई सूर प्रकट या ब्रजमें, गोकुल-गोप-बिहारी (हो)''

''जहाँतक मेरा ज्ञान है, आपके सम्प्रदायका आधारशास्त्र श्रीमद्भागवत है। श्रीमद्भागवत ही भक्तिजगत्‌का भी आधारशास्त्र है। मुझे जहाँ तक अनुमान है, मैंने जो कुछ आपको कहा है, वह श्रीमद्भागवत शास्त्रसे विपरीत तो कदापि नहीं होना चाहिये। भागवत-धर्मके सार-सिद्धान्तोंका ही प्रकाश मैंने अपनी भाषामें आपसे कहा है। उपरोक्त पद आपके ही सम्प्रदायके प्रमुख कवि श्रीसूरदासजीका है, जिसमें भगवान्‌के बाल-माधुर्यके साथ ही उनका माहात्म्य भी वर्णित है।''

''वैसे शुद्ध माधुर्य-सेवा जिसमें माहात्म्यका अनुभव भी नहीं हो, ऐश्वर्य जहाँ कहीं झाँके भी नहीं, उसकी भी अपनी एक गरिमा है। भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारने अपने एकान्त सत्संगमें मेरे सम्मुख ऐसे प्रसंगोंका भी उल्लेख किया है, परन्तु उसके अधिकारी वर्तमानमें कहाँ हैं ? हम तो जब पूरे आस्तिक ही नहीं हैं, तो हमें तो मर्यादाकी दृष्टि अपनाकर ही पहले भगवद्विश्वास अर्जित करना चाहिये।''

''विशुद्ध माधुर्य तो लोक-वेदातीत लोगोंका मार्ग है। हम तो अभी पूरे शरीराध्यासी हैं। जहाँ हमारे काम-क्रोधादि विकार ही नहीं छूटे, जब हम पूरे लोक व्यवहारमें आपाततः रचे-पचे हैं, वासनाओंके मलसे लिप्त, हम लोगोंको विशुद्ध माधुर्यकी बात करना शोभा नहीं देता। श्रीमद्भागवत शास्त्रके अनुसार तो महारासकी अधिकारिणी, गोपांगनाओंको भी भगवान् श्रीकृष्णके ऐश्वर्यका पूरा ज्ञान था, और वे भगवान्‌को अपना पति मानती हुई भी गोपीगीतमें कहती हैं –

''न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्''

''आप केवल यशोदानन्दन ही नहीं हो, समस्त शरीरधारियोंके हृदयमें रहनेवाले, उनके साक्षी, द्रष्टा भी हो, अन्तर्यामी परमात्मा हो ।''

''इसका स्पष्ट अर्थ है कि गोपियाँ श्रीकृष्णको अपना प्रियतम मानती हुईं उनमें परमात्मबुद्धि रखती थीं। हाँ, माता यशोदाके चित्तमें कभी भी भगवान्‌का ऐश्वर्य टिक नहीं पाया, उनका परम विशुद्ध वात्सल्य श्रीकृष्णको सदा अपना जन्मजात पुत्र ही देखता रहा। अतः यदि आप सचमुच ही यशोदा-भाव-भावित हैं, तो मैं आपको कुछ भी उपदेश देनेका अधिकारी नहीं हूँ। उस समय तो मैं आपकी चरण-रेणुकी वन्दना ही कर सकता हूँ। फिर मेरा सारा उपदेश आपके लिये सर्वथा उपेक्षणीय है। परन्तु यहाँ अत्यन्त सावधानी रखियेगा। यदि आपमें महा-महा-महिमामयी यशोदामैयाके परम दिव्य भावकी छायाका लेश भी होगा,

तो आपमें नामरूप और देहत्वका संश्लेष विकार भी नहीं होना चाहिये। फिर आपका चित्त आठों प्रहर श्रीकृष्णकी प्रगाढ़ स्मृति और चिन्तामें ही निरत रहना चाहिये। तनिक भी घोर मलिन मायिक देह-भावका आपमें आठों प्रहरमें क्षणभरके लिए भी यदि आवेश होता है, तो विशुद्ध वात्सल्यकी छायाके कणका भी अभी आपमें संस्पर्श नहीं हुआ है -- ऐसा मानते हुए इस मलिन देह-भावसे निवृत्त होनेकी चेष्टामें हमें लगना चाहिये। हम भगवान् श्रीकृष्णकी वात्सल्य भाव-भावित उपासना, सेवा-भावना अवश्य करें परन्तु साथ ही उन्हें अपने हृदयमें अन्तर्यामी रूपमें देखते हुए यह भी भावना करें :–

''अन्तरमें स्थित रहकर मेरी बागडोर पकड़े रहना ।
निपट निरंकुश चंचल मनको सावधान करते रहना ।।
अन्तर्यामीको अन्तःस्थित देख, सशंकित होवे मन ।
पाप भावना उठते ही, हो नाश लाजसे वह जल-भुन ।।''

''बन्धु ! मार्गका लक्ष्य चाहे हम कितना ही उच्च स्थापित करें, लक्ष्य-स्थान यात्राका प्रारंभ-स्थल नहीं हो सकता। हमारी यात्रा हमें वहींसे प्रारंभ करनी है, जहाँ हम वर्तमानमें हैं। अतः जहाँ हम हैं, उसके अनुसार ही हमारा साधन भी होगा। यदि हम घोर मलिन कीचड़में फँसे हैं, तो हमें प्राथमिकता उसी साधनाको देनी होगी, जो हमें पहले इस कीचड़से, दलदलके समुद्रसे निकाले। उसके पश्चात् ही हम हिमालयकी सुरम्य पुष्प-घाटीकी यात्रामें सफल होंगे। अभी तो घोर मलिनतम माया-कीचसे तो हम निकलें, उसके पश्चात् ही हम सख्यरस, वात्सल्यभाव अथवा माधुर्यरतिकी बात कर सकेंगे।''

''यदि मेरी बात आपकी भावनामें ठेस पहुँचानेवाली हो, तो क्षमा करेंगे। परन्तु, मेरी मान्यतामें जो सच्ची कपटरहित बात आपके लिये आयी, वह निस्संकोच कह दी है।''

''अब आज तो बहुत ही विलम्ब हो गया है। आपसे बात भी प्रायः पूर्ण हो ही गयी है। मुझे सायंकालके सत्संगके पूर्व शौच-स्नान भी करना है, अतः अब आपसे विदाई माँगता हूँ, फिर कभी प्रभुने चाहा तो आपसे और वार्त्ता होना संभव है।

(यह सब प्रसंग वार्त्ताकारने मुझे बहुत वर्ष पूर्व गोरखपुरमें सुनाया था। वार्त्ताकारने यथास्मृति इसे अपने हस्ताक्षरोंमें लिख रखा था। पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबासे वार्त्ताकारकी भेंट इतनी प्रभावोत्पादक थी कि भविष्यमें वार्त्ताकारका जीवन और भी भक्तिभावसे भरा हो गया था। वे अनवरत भागवत-परायण जीवन ही व्यतीत करने लगे थे।)

।। श्रीराधा।।

वार्त्ता संख्या - दो

भगवान्‌की सत्ता और महत्ता

वार्त्ताकार :

बीकानेर राज्यान्तर्गत चूरू नगरके नाजिम,
मुंसिफ मजिस्ट्रेट एवं पुलिस अधिकारी

स्थान : ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम, चूरू
दिनांक : बसन्त ऋतु, वि.सं. १९९५ तदनुसार, ई. सन् १९३८

प्राप्ति-सूत्र : तत्कालीन मुंसिफ श्रीगोपाल आचार्यके सौजन्यसे

पूज्य स्वामीजी चक्रधरजी महाराज (भविष्यमें पू. श्रीराधाबाबाके नामसे प्रख्यात, एक तरुण सन्यासी) जो हिन्दी, आंग्लभाषा, बँगला एवं संस्कृत भाषामें समान अधिकार रखते हुए भाषण करनेमें कुशल हैं, सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके साथ चूरू पधारे हैं।

ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम, चूरूका वार्षिकोत्सव हो रहा है। यह ब्रह्मचर्याश्रम सनातन धर्मके मूल आचार-विचार, कर्मकाण्ड और जीवन-पद्धतिकी शिक्षाके साथ-साथ शिक्षाबोर्डकी एन्ट्रेन्स परीक्षातककी शिक्षा बच्चोंको आज भी दे रहा है। शिक्षार्थी बच्चोंके लिये यहाँ निवासकी समुचित व्यवस्था भी उपलब्ध है। शुल्क नाम-मात्रका, अत्यल्प लिया जाता है, जिसमें विद्यार्थीको निःशुल्क पुस्तकें, कॉपियाँ, सभी लेखन-सामग्री उपलब्ध करायी जाती है। सुबह-सायं भोजनके अतिरिक्त दोनों समय दूध भी दिया जाता है।

सभी बालक यज्ञोपवीतधारी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जातिके होते हैं। ये पादुकाके स्थानपर खड़ाऊ पहना करते हैं। प्रातः एवं सायंकाल ये सन्ध्या-गायत्रीके साथ-साथ योगासन एवं नियमित व्यायाम भी करते हैं। बच्चे मात्र ६ घंटे ही शयन करते हैं। शेष अठारह घंटे इन्हें अध्ययनके अतिरिक्त ब्रह्मचर्याश्रमकी सभी भूमि एवं भवनोंको स्वच्छ करना, वृक्षोंका सिंचन करना, पुष्पोंकी लताओंको पानी देना होता है। इन्हें व्यायाम एवं योगादिके साथ-साथ गीता, रामायण, श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थोंका अभ्यास भी

कराया जाता है। बच्चे गीता-रामायण एवं श्रीमद्भागवतादि शास्त्रोंको कण्ठस्थ करके अर्थसहित सुनाया करते हैं। शास्त्रोंके श्लोकोंका बच्चे पदच्छेद, अन्वयादि करके अर्थ सुनाया करते हैं। अंग्रेजी, हिन्दी, संस्कृत, व्याकरण, कर्मकाण्ड, अमरकोश आदि सभी विषयोंमें बच्चे मेधावी होते हैं और प्रमाद, आलस्यसे रहित ईमानदार, सच्चरित्र एवं कठोर जीवन-यापनके अभ्यासी हो जाते हैं।

वार्षिकोत्सवके दिन संस्थापकगण तो आते ही हैं, साथ-ही-साथ बच्चोंके अभिभावक, माता-पितादि भी आते हैं। बच्चोंकी सर्वविधि उन्नति देख-देख कर सभी हर्षित होते हैं। अति शिशु अवस्थासे ही बच्चोंको इस आश्रममें भरती किया जाता है, और सत्संस्कारोंकी शिक्षाके साथ-साथ अंग्रेजी, हिन्दी, गणित, भूगोल, इतिहास, अर्थशास्त्रादि सभी विषय बहुत ही कठोर परिश्रमसहित पढ़ाये जाते हैं। प्रायः सभी बच्चे उच्च अंकोंको प्राप्तकर शिक्षा-बोर्डकी परीक्षा उत्तीर्ण करते हैं। जब बालक सोलह वर्षकी उम्र प्राप्त कर लेता है, तभी उसे आश्रमसे छुट्टी मिल पाती है, अन्यथा आश्रममें भरती हुए बच्चेको आठ-नौ वर्षतक आश्रममें ही आठों प्रहर, सर्वकाल रहना होता है। वार-त्यौहार, होली-दीवालीपर भी बच्चे घर नहीं भेजे जाते हैं। हाँ, माता-पिता एवं अभिभावक उनसे मिलने आश्रममें आ सकते हैं।

वार्षिकोत्सवमें बालकोंके अभिभावकोंके अतिरिक्त चूरू एवं आसपासके शहरोंके सभी गण्यमान्य व्यक्ति आमंत्रित किये गये हैं और शहरके पदाधिकारी, शिक्षाविद्, सेठ-साहूकार आदि सभी उपस्थित हैं।

उपस्थित जनसमूहको सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दका, स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज, भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार आदि संस्थापकगण सम्बोधित कर रहे हैं। प्रवचन, सत्संगका विषय गीता-शास्त्र, तुलसीकृत रामायण और ईश्वर-प्राप्तिके साधनोंका विवेचन है। स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज, एक तरुण सन्यासी नवागन्तुक हैं और इनकी प्रवचन-शैली शिक्षाविदों, राज्याधिकारियों एवं बुद्धिजीवियोंमें लोक-प्रिय है।

इन बुद्धिजीवियोंका विशेष दल आज श्रीस्वामीजीसे प्रश्नोत्तरीके रूपमें वार्त्ता करने समुपस्थित हुआ है। चूरूके नाजिम (तत्कालीन जिलाधीश) इनमें प्रमुख हैं। इनके साथ मुंसिफ मजिस्ट्रेट एवं विद्यालयोंके मुख्य शिक्षक, पुलिसके उच्चपदाधिकारी आदि भी सम्मिलित हैं।

एक काष्ठकी चौकी (तखत) पर पू. स्वामीजीका आसन है एवं सभी पदाधिकारी कुर्सियोंमें आसीन हैं।

सर्व प्रथम चूरू जिला नाजिम महोदयने स्वामीजी श्रीचक्रधरजीसे प्रश्न किया :–

(वार्त्ता प्रारंभ)

नाजिम साहब - "स्वामीजी ! मैं हिन्दू होकर भी हिन्दू-शास्त्रोंकी माइथोलोजी (पुराण-कथाओं) पर विश्वास नहीं करता। पौराणिक कथाओंके आधारको छोड़कर विज्ञान-सम्मत तार्किक उक्तियों द्वारा क्या आप मेरे लिये भगवान्‌की सत्ता प्रतिपादित कर सकते हैं ?"

तरुण सन्यासी - "नाजिम साहब ! परमात्मा या भगवान् त्रिकालाबाधित सत्य हैं, अतः उन्हींसे सब कुछ प्रतिपादित हो रहा है, उन्हें मैं 'चक्रधर' नामक एक सृष्टिकीट भला कैसे प्रतिपादित कर सकता हूँ ?"

आप तो विद्वान् हैं, सत्य तो अनन्त है। सत्य अपना परिचय देनेमें स्वयं समर्थ और स्वतंत्र है। अनन्त सत्यका परिचय व्यक्ति नहीं दे सकता; वह तो स्वयं सत्यमें व्यक्त है, सत्यसे व्यक्त है।"

"एक बात आप मुझे बताइये, आप अपने-आपको किसके द्वारा जान रहे हैं, अथवा आपको कौन प्रतिपादित कर रहा है ?"

नाजिम साहब - "मैं अपने-आपको अपने बुद्धि-जन्य ज्ञानके प्रकाशमें जान रहा हूँ।"

तरुण सन्यासी - "देखिये ! जरा गंभीरतासे सोचकर बताइयेगा, आप अपनी बुद्धिको भी जान रहे हैं। आप कभी अपने-आपको मन्द-बुद्धि भी अनुभव कर लेते हैं, कभी ऐसे भी अवसर आते हैं, जब आप अपनी तीक्ष्ण बुद्धिकी प्रशंसा भी करते हैं, तो जो बुद्धिकी मन्दता एवं तीक्ष्णताको जान रहा है, वह ज्ञान बुद्धिसे परे बुद्धिका प्रकाशक ही होना चाहिये ?"

"फिरसे विचार कीजिये, ज्ञान इन्द्रियोंसे भी आ रहा है। आँखको रूपका ज्ञान होता है, कानको शब्दका ज्ञान होता है। इसीलिये ज्ञानवान् इन्द्रियोंको हम ज्ञानेन्द्रियाँ कहते हैं, परन्तु इन ज्ञानेन्द्रियोंको हमारा मन (Mind) प्रतिपादित कर रहा है। मन यदि अन्यत्र लगा हो, तो कान सुनेंगे नहीं, नेत्र देखेंगे नहीं। इस मनको आप बुद्धिसे जानते हैं। आप जब कहते हैं, "स्वामीजी मेरा मन चंचल है", तो मनको आप मनसे परे किसी वस्तुसे जानते हैं। मनसे परे आपकी बुद्धि है। और बुद्धिको भी जब आप जानते हैं और कहते हैं कि "मेरी बुद्धि मन्द है", तो यह बुद्धिसे परे कौन है ? आप कहेंगे कि बुद्धिसे परे 'मैं स्वयं' 'आत्मा' हूँ। अब आप ही सोचकर बताइये, इस आत्मासे परे कौन है ? तो आप कहेंगे कि इस आत्मासे परे तो कुछ भी नहीं है। आत्मा ही सबका प्रकाशक, सबका प्रतिपादक है। अब आप थोड़ी-सी मेरी बात मान लीजिये और इस आत्माको

आप व्यष्टि-भावसे मुक्त कर दीजिये, क्योंकि आत्मा सर्वत्र सब जीवधारियोंमें अनुभवरूप है। तो इसे आप ही कहेंगे कि परमात्मा सबको प्रतिपादित कर रहा है। परमात्माको व्यक्ति प्रतिपादित नहीं कर सकता। यह परमात्मा स्वप्रकाश सत्य है। यह सत्य अनन्त है । इसी स्वप्रकाश सत्यके ज्ञानमें हम अनन्तत्व को भी जान रहे हैं। जो अनन्तत्वको जानता है, वह अवश्य अनन्तसे भी अनन्त है।''

''नाजिम साहब ! आप हमारे शास्त्रोंपर अकारण नाराज हैं। भला बताइये, गीता कितनी तर्कयुक्त है, जब वह कहती है :–

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ।। (गीता ३।४२)

गीताके इस श्लोकका अर्थ है कि हमारा पंचभूतात्मक शरीर, जो जड़ है, वह ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा प्रकाशित हो रहा है। क्योंकि चेतना ही जड़ताका संचालन करनेमें समर्थ है, अतः शरीरसे ज्ञानेन्द्रियाँ अधिक बलवान् हैं और वे शरीरसे परे रहती हुई उसका संचालन कर रही हैं। इन्द्रियोंसे परे मन है, यह मन इन्द्रियोंसे अधिक बलवान् है। यह इन्द्रियोंको संचालित कर रहा है और मनकी नियंत्रक बुद्धि, मनसे भी परे एवं उससे अधिक बलयुक्त है। बुद्धिसे परे हमारा आत्मा, सबका प्रकाशक और सर्व-बलनिकेतन है। वही सबको संचालित कर रहा है। उसका संचालक अन्य कोई नहीं। वह स्वयंसिद्ध है, स्वप्रकाश है, पूर्ण स्वतंत्र है, और सर्व-बलनिकेतन है। यह आत्मा ही सर्वाश्रय है। यह व्यष्टि एवं समष्टि सबमें निहित है, और सर्वरूप है।''

''अब 'भगवान्' शब्दका अर्थ समझ लीजिये। 'भग' हमारे यहाँ ऐश्वर्यबोधक है। ऐश्वर्य छः प्रकारके हैं। इनके नाम हैं – ज्ञान, वैराग्य, धर्म, बल, ऐश्वर्य और यश। जिसमें ये छः प्रकारके ऐश्वर्य समग्ररूपमें हों, उसे 'भगवान्' कहते हैं। अब आप अपनी आत्मामें इन छः ऐश्वर्योंको समग्ररूपमें अनुसंधान कीजिये। यदि आप अपने अनुसंधानमें गंभीर होंगे, तो आश्चर्यचकित हो उठेंगे। आप पायेंगे कि मैं व्यर्थ ही अपनेको अल्प, मरणधर्मा शरीर माने हुए था। मैं तो सचमुच ही भगवान् हूँ। मुझमें तो ये छहों ऐश्वर्य पूर्णरूपेण विद्यमान हैं।''

''नाजिमरूपधारी भगवन् ! अपने-आपको पहचानिये, आपमें अनन्त ज्ञान है या नहीं ? देखिये, एक बार दस-पाँच क्षणोंके लिये ही सही, भूल जाइये, पूर्णतया विस्मृत कर दीजिये कि आप एक अल्प–शरीरधारी हैं। आप अपनेको *'यो बुद्धेः परतस्तु सः'* मानकर इस धरातलपर एक मिनटके लिए ही बैठक लगा लीजिये। आप निश्चितरूपसे पायेंगे कि जो बुद्धिको भी अपने ज्ञानमें जान रहा है, वह निश्चय ही प्रज्ञानस्वरूप, अनन्तज्ञान-निकेतन, विशुद्ध ज्ञानस्वरूप

आपका अपना आपा ही है। वह सर्वज्ञ है, क्योंकि सर्व उसमें ही प्रकाशित हो रहा है। उस आत्मामें ज्ञान ही ज्ञान है। जब सारी अनन्तता ज्ञानके ही भीतर है, ज्ञानके द्वारा ही अनन्तता प्रकाशित हो रही है, तो निश्चय ही आत्मा अनन्तज्ञान स्वरूप है।''

''अब आप पूरी तरहसे शरीर-मुक्त हुए अनुभव कीजिये – 'मैं पूर्ण ज्ञान हूँ, त्रिकालाबाधित ज्ञान हूँ,' क्योंकि कालकी सत्ता ज्ञानसे परे नहीं, ज्ञानके द्वारा ही जानी जाती है, अतः आप कालके भी काल हैं। सर्वकाल आपमें ही उदय एवं अस्त हो रहा है। देखिये ! हमारे शास्त्रोंसे जो आपने नाराजगी मोल ले रखी है, उसे छोड़ दीजिये और समझिये, शास्त्र कहते हैं – **'प्रज्ञानं ब्रह्म'**, अर्थात् यह प्रज्ञान सबसे महान्, सबसे बड़ी वस्तु है। प्रज्ञानसे बड़ा कुछ नहीं और यह आत्मा ही प्रज्ञानस्वरूप है। अतः आत्मासे बढ़कर और कुछ नहीं। **'अयमात्मा ब्रह्म'**, यह आत्मा ही ब्रह्म है। आत्मा पूर्ण है।''

''नाजिम साहब ! यह अवश्यंभावी तथ्य है कि जो पूर्ण है, उसमें किसीसे भी राग नहीं हो सकता। राग सदा अपूर्णतामें ही संभव है। आत्मा रागसे भी मुक्त है और द्वेषसे भी मुक्त है। आत्मा अपने-आपमें ही तृप्त है, कृतकृत्य है, वहाँ अन्यत्व संभव ही नहीं। जब आत्माके अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं, तो वह किससे राग करे, एवं किससे द्वेष करे। वह तो प्रज्ञानस्वरूप एकमेव है। अतः वह अनन्त वीतरागी है। अतः आपके अपने आपेमें पूर्ण वैराग्य स्वतःसिद्ध है। इसी प्रकार आपमें अनन्त बल, अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त धर्म, एवं यश भी आपको अन्वेषण करनेपर अवश्य मिलेंगे ।''

नाजिम साहब - ''स्वामीजी ! आत्मा मायासे राग तो कर ही सकती है। जैसे मेरी आत्मा इस शरीरसे पूर्णतया रागी है, शरीरके निर्वाहकी, शरीरको भोगोंकी प्राप्ति हो, इसकी चिन्ता मुझे होती है, इसका अर्थ ही है कि यह चिन्ता मेरे अपने आपेमें, आत्मामें भी है। दूसरे आत्मामें ज्ञान भी है और अज्ञान भी है। क्या आत्माके द्वारा जड़ पञ्चभूत जो अज्ञानरूप हैं, प्रकाशित नहीं हो रहे हैं ? यदि आत्मामें अज्ञान होता ही नहीं, तो अज्ञान आता ही कहाँ से ?''

तरुण सन्यासी - ''नाजिम साहब ! आप यहाँ भूल कर रहे हैं । देखिये ! बोधस्वरूप आत्माको बुद्धि माननेका भ्रम मत पालिये। आपकी बुद्धि रागी हो सकती है, वह शरीराध्यासी भी हो सकती है, अतः शरीरकी रागी होकर उसके निर्वाहकी, उसकी सुख-समृद्धिकी चिन्ता कर सकती है। बुद्धि, विद्या एवं अविद्या-सम्पन्न दोनों हो सकती है। बुद्धिमें दुःख, चिन्ता, अभाव, व्याप्त हो सकते हैं। परन्तु आत्मा बुद्धिकी प्रकाशक है, वह सर्वथा विशुद्ध है। वह

स्वरूपतः ही विशुद्ध बोध है। बुद्धि रागी भी हो सकती है, एवं द्वेषी भी हो सकती है। वह विवेकी, अविवेकी हो सकती है, परन्तु आत्मा अपने-आपमें पूर्ण होनेसे, न रागी है, न द्वेषी है। उसमें जैसे पूर्ण बोध है, उसी प्रकार पूर्ण वैराग्य भी है। नाजिम साहब ! विचार कीजिये, जब आप इन्द्रियोंसे युक्त शरीरके अध्यासी हुए, इन्द्रियजन्य ज्ञानको सत्य समझने लगते हैं, तो आपको संसार सत्यवत्‌ भासता है; आप उसे सत्य समझने लगते हैं। आप जब विवेकाश्रयी हुए, विवेक-जन्य ज्ञानसे संसारको देखेंगे, तो आपको संसार दुःखालय, क्षणभंगुर, नाशवान्‌, असत्‌ अनुभव होगा। और आप जब अनुभवरूप आत्मामें बैठकर देखेंगे, तो आपको सर्वत्र पूर्ण शुद्ध बोधस्वरूप सत्ताके अतिरिक्त कुछ नहीं दीखेगा। उस समय न तो शरीर रहेगा, न ही संसार। व्यष्टि शरीर और समष्टि संसार दोनों ही उस समय शशश्रृंगवत्‌ लुप्त हो जावेंगे।"

नाजिम साहब - "स्वामीजी ! मेरा मूल प्रश्न अभी भी अनुत्तरित है। आपने कहा कि बुद्धि एवं इन्द्रियजन्य ज्ञानमें रागद्वेष एवं संसार है, तो बुद्धि एवं इन्द्रियाँ क्या आत्मामें नहीं हैं और अगर नहीं हैं तो ये आयी कहाँ से ?"

तरुण सन्यासी - "देखिये, ये सभी मात्र प्रातीतिक हैं, परस्पर एक-दूसरे द्वारा निषिद्ध होती हैं। जैसे रात्रिमें अल्प चाँदनीका प्रकाश हो, और भय हो, भूतके संस्कार हों, तो एकान्त रेगिस्तानमें फोगके वृक्ष भूत-भूतनियोंकी तरह दीखते हैं। भूत-भूतनियाँ होती होंगी, परन्तु मैंने स्वयं अनुभव किया है कि एकान्त जंगलमें अल्प प्रकाशमें फोग-वृक्षके ठूँठ ठीक स्त्रियों एवं मनुष्योंकी तरह समूहमें बैठे दृष्टिगोचर होते हैं। अब यदि कोई निर्भय ऊँटमें अथवा किसी वाहनमें बैठकर उनके निकट चला जाए, तो ठूँठ दृष्टिगोचर हो जायेगा ही। इसी प्रकार विषयोंका राग होनेपर ही इन्द्रियजन्य ज्ञान और इन्द्रियोंकी सत्ता है। यदि विषयोंके प्रति राग मिट जाए तो इन्द्रियाँ स्वतः ही लुप्त हो जावेंगी। विचार कीजिये, देखनेके रागसे मनुष्य अंधा होनेपर नेत्रोंके लिये लालायित है। यदि देखनेका राग न रहे, तो उसे नेत्रेन्द्रियकी आवश्यकता ही नहीं है, वह अपने आत्मज्ञानजन्य आनन्दमें, अपने सत्स्वरूपमें मस्त है। इसी प्रकार सुननेका राग रहनेपर ही कानकी आवश्यकता है, सुननेका राग न रहे, तो कानकी आत्मामें आवश्यकता ही नहीं है। मनुष्य बिना कान, बिना आँख अपने सत्स्वरूपमें पूर्ण है। अब बुद्धिजन्य ज्ञान (विवेक) जब देखने एवं सुननेके रागको निवृत्त कर देता है, तो हम कहते हैं – "यह वैरागी है।" मैंने एक महात्माको देखा है, वे जन्मान्ध थे और पूरे बहरे थे, बहरे होनेसे गूँगे भी स्वाभाविक ही थे। जो सुनेगा ही नहीं, वह बोलेगा क्या ? परन्तु वे बड़े मस्त थे। वे अपना अनुभव बता नहीं

सकते थे, परन्तु उनकी मस्ती और आनन्दवृत्ति देखकर लगता था कि वे देखने-सुनने एवं बोलनेके रागसे मुक्त होकर अपने आत्मानन्दमें पूर्ण मस्त हैं; विवेकने उन्हें इन विषयोंके रागसे मुक्त कर दिया था। तो यह सत्य है, बुद्धि जब विवेकयुक्त होकर विचारमें लग जाती है, तो विषयोंसे वैराग्य होता है।"

"एक बार मैं काशीमें था, वहाँ गंगाके किनारे मैंने एक महात्माको देखा। वे आमका रस अपने शरीरपर चुपड़कर गंगाके किनारे गन्दे स्थानोंमें जहाँ लोग शौच जाते हैं, पड़े रहते थे। उनके शरीरमें चतुर्दिक् मक्खियाँ भिन-भिनाती रहती थीं। परन्तु वे मक्खियोंको उड़ाते ही नहीं थे, न नहाते थे। मैं उन दिनों किशोर था। कैशोरजन्य चपलता एवं आत्मीयताके कारण मैंने उन्हें जबर्दस्ती नहलानेका विचार किया, तो वे हँसकर कहने लगे – "मूर्ख ! तेरे भीतर तो पहले देख, तू स्वयं कितना विषय-मलसे मैला है और वासनाओंकी कितनी बड़ी-बड़ी मक्खियाँ तेरे भीतर भिनभिना रही हैं ? अरे ! उन्हें तो पहले तू उड़ा ले, स्वयं तो स्वच्छ हो।"

"तो विचारपूर्वक वैराग्यसे उन्होंने त्वक्-विषयक स्पर्शके रागसे अपनेको मुक्तकर रखा था। अब वे अपने विवेकमें मस्त थे।"

"यह वैराग्य भी उसी समयतक जीवित है, जबतक किसी-न-किसी प्रकारका राग है। रागके समूल मिटते ही वैराग्य अपने-आप मिट जाता है। राग-वैराग्यके लुप्त होते ही अनुभवजन्य ज्ञान प्रकट हो जाता है। उस अनुभव-जन्य ज्ञानमें न शरीर है और न ही संसार है। शास्त्र इसी स्थितिका उद्‌बोध करता हुआ कहता है :–

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, नेह नानाऽस्ति किंचन'

अर्थात्, सर्वत्र निश्चय ही प्रज्ञानघन आत्मरूप ब्रह्मकी ही सत्ता है। यह – 'मैं', 'तू', 'तेरा', 'मेरा', अनेकत्व कहीं कुछ भी नहीं है। वह ***'ब्रह्म'*** तू ही है। ***'तत्त्वमसि'*** *।'*

"इस बातको पुनः समझ लीजिये :–

पहली बात - इन्द्रियजन्य ज्ञानमें जन्म है, मृत्यु है, भोग हैं, भय है, राग है, द्वेष है, दुःख हैं, पीड़ाएँ हैं, शरीर है, संसार है, नरक है, स्वर्ग है, काल है, कर्म है, सद्गति है, दुर्गति है, 'मैं' है, 'तू' है, 'तेरा' है, 'मेरा' है।"

दूसरी बात - इन्द्रियजन्य ज्ञानमें जब दुःख-दोष-दर्शन होता है और सुखरूप बीजसे दुःखरूप वृक्ष हरा-भरा हो जाता है, तभी उन्नतिकी प्रेरणा होती है। क्योंकि सुख सदा किसीका दुःख बनकर ही मिलता है, और ऐसा कोई दुःख नहीं है जिसका जन्म सुखसे नहीं हुआ हो। उन्नतिकी प्रेरणा, वैराग्यकी

उत्पत्तिकी हेतु होती है।

जो सुख किसीका दुःख बनकर मिलता है, वह सुख मिटकर निश्चय ही बहुत ही बड़ा दुःख हो जाता है। जब हृदयमें दुःखरूप अग्नि धधकती है, तो यह धधकती अग्नि विकारोंको जलाने लगती है। जिस प्रकार लकड़ीके न रहनेपर अग्नि अपने-आप ही शान्त हो जाती है, उसी प्रकार विकार नहीं रहनेपर, दुःख अपने-आप शान्त हो जाता है।"

"सुख-दुःखके शान्त होनेपर ही आनन्दकी गंगा लहराती है। उस समय बुद्धिजन्य ज्ञानमें सद्भाव होना प्रारंभ होता है। आनन्दकी गंगा शरीर-भावको भी डुबो देती है। शरीर-भाव धारण करनेसे ही सीमित अहंभाव उत्पन्न होता है। सीमित अहंभाव होनेसे ही हम किसी-न-किसी प्रकारकी बन्धनयुक्त भावना अपनेमें अनुभव करते हैं । उसी बन्धनयुक्त भावनासे चाह उत्पन्न होती है और चाहसे कर्म करनेका भाव उत्पन्न होता है। कर्मरूप बीजसे शरीररूप वृक्ष उत्पन्न होता है। अपनेमें शरीर-भाव धारण करनेके कारण ही आनन्दघन भगवान् संसारके स्वरूपमें दीख रहे हैं। जिस प्रकार शरीर-भाव धारण करनेसे संसारका अनुभव होता है, उसी प्रकार आत्मभाव धारण करनेपर परमात्माका अनुभव होने लगता है। बुद्धिजन्य ज्ञान, विवेकमें सद्भाव होनेपर शरीरमें भाव मिटानेकी चाह उत्पन्न होती है। और शरीर-भाव मिटानेके लिये आत्मभाव धारण करना आवश्यक लगता है। आत्मभाव धारण करते ही अनुभवजन्य ज्ञानपर सद्भाव होता है। अनुभवजन्य ज्ञान होते ही सच्ची आस्तिकताका उदय होता है।"

"**तीसरी बात** - अनुभवजन्य ज्ञान रागको समूल मिटाता है। रागके मिटते ही वैराग्य भी मिट जाता है। विचारका उदय होता है। विचार अविचारको खा जाता है। अविचारको खाकर विचार भी शान्त हो जाता है। अज्ञानका अभाव करके ज्ञान शान्त हो जाता है। भोगका अभाव होते ही योग भी स्वतः मिट जाता है। अब मात्र अनुभवरूप परमात्मा-ही-परमात्मा रहता है। यही स्थिति परम पद है।"

मुंसिफ मजिस्ट्रेट - "स्वामीजी ! नाजिम साहबके प्रश्नोंके आपने तर्क-सम्मत उत्तर दिये। मेरा नाम श्रीगोपाल आचार्य है। एक मेरा भी प्रश्न है। वह प्रश्न यद्यपि है, पूरा नास्तिकताका प्रतिपादक, परन्तु आपसे यदि जिज्ञासाका पूर्ण समाधान नहीं ,हुआ, तो मैं तो पूर्ण नास्तिक ही रहूँगा। स्वामीजी ! मृत्युके पश्चात् कोई आत्मा रहती है, होती है, मैं इसे नहीं मानता। यह विश्व प्राकृत है एवं प्रकृतिमें संयोगोंसे चेतना, ज्ञान स्वतः उत्पन्न होते हैं। शरीरसे हीन कोई आत्मा कहीं नहीं है। मेरी दृष्टिमें यह आत्मा-परमात्मा, पेट-भरे व्यक्तियोंकी

मात्र कल्पना है। शरीरकी मृत्युसे आत्मा-परमात्मा, सभी मर जाते हैं।

तरुण सन्यासी - "मुंसिफ साहब ! आप तो न्यायके आचार्य हैं। फिर जातिसे भी आप 'आचार्य' ब्राह्मण हैं। आप कृपा करके मुझे इतनी छोटीसी बात समझा दीजिये कि आप जो कह रहे हैं कि शरीरकी मृत्युसे आत्मा-परमात्मा सभी मर जाते हैं, इस बातको आनुमानिक रूपसे कह रहे हैं, या प्रत्यक्ष अनुभवके आधारपर कह रहे हैं ? यदि आप प्रत्यक्ष अनुभवके आधारपर यह कहते हैं कि आत्मा-परमात्मा सब मर जाते हैं, तब प्रत्यक्ष आत्मा-परमात्माकी मृत्युके आप दृष्टा रहते हैं। तब तो मेरी बात सिद्ध हो गयी। मैं भी यही कह रहा हूँ कि अनात्मवस्तुका नाश आत्मवस्तुके ज्ञानसे हो जाता है; फिर आत्मवस्तु भी नहीं रहती। परमात्मवस्तुकी सत्ता भी अपरमात्मवस्तुकी सत्ताको समाप्त करनेके लिये ही है। अपरमात्मवस्तु समाप्त होते ही परमात्मवस्तु भी नहीं रहती। एक अनिर्वचनीय अभावका द्रष्टा-भाव रहता है। क्योंकि 'भाव' शब्द भी अभावके नाशके पश्चात् रह ही नहीं सकता।"

"और यदि आपका कथन, मात्र अनुमान है, तो मेरा इतना ही कहना है, अनुमान द्वारा स्थापित सत्य, सिद्ध-सत्य है, यह कभी कहा ही नहीं जा सकता। अतः कृपया आप उसमें जिज्ञासाको रखिये। जिज्ञासाका अन्त मत करिये।"

"अब आप यदि जिज्ञासा रखते हैं, तो आपको अपने भीतर ही एक ऐसा सत्य दृष्टिगोचर होगा जो सर्वकालमें एक-सा रहता है, और असत्को प्रकाशित कर रहा है। आप ठीक अनुभव करेंगे – शरीर बालकपनसे कुमार होता है, फिर किशोर और तब युवक हुआ है, वह अयोग्यसे योग्य हुआ है, अपठितसे पठित हुआ है, परन्तु सत्य जो उसे देख रहा है, प्रकाशित कर रहा है, वह एक-सा है; वह निष्परिणामी है। एक असत् है, जड़ है, जो अपने-आपको प्रकाशित नहीं कर सकता, परन्तु वह दूसरेकी आधीनतामें, साक्ष्यमें प्रकाशित हो रहा है, वही जन्मसे लेकर मृत्युतक बढ़-घट रहा है। वही व्यय हो रहा है। परन्तु जो सत्य है, स्वप्रकाश है, द्रष्टा है, जो घटता-बढ़ता नहीं, निष्परिणामी है, अव्यय है, नित्य एकरस है – वह असंग है, अनावृत है, वह एक-सरीखा नित्य है। उसका किसी भी प्रकार त्याग नहीं किया जा सकता। वह अत्यंत प्रिय है। मैं जो दिशा दे रहा हूँ उस पर आप थोड़ा गंभीरतापूर्वक विचार कीजिये, तो आप ठीक पायेंगे कि शरीर आपमें धृत है, आप शरीर हैं नहीं। आपकी स्वाभाविक वाणी, ज्ञान भी यही कहता है, 'मेरा शरीर' । अब बताइये जो आपका है, वह आप हो नहीं सकते। आचार्यजी ! आप तो न्यायविद् हैं, शरीर जड़ है, आप नित्य, सत्य, स्वप्रकाश हैं, शरीर अनित्य, असत्य, पर-प्रकाश है; आप अमृत हैं, शरीर

मृतधर्मा है, वह जन्मा है, निश्चय ही उसकी मृत्यु होगी ही। मेरी समझमें नहीं आता, आप ऐसे आग्रही क्यों हो रहे हैं कि मृत्युको, दुःखको, विकारको, मलिनको, पराधीनको, पर-प्रकाशको, दरिद्रताको, अपना स्वरूप माननेपर तुले हैं ?"

"आचार्यजी ! आप बुद्धिमान्, विवेकी, पढ़े-लिखे, विद्वान्, तर्कशील व्यक्ति हैं। विचार कीजिये, यह शरीर है क्या ? व्याकरण-शास्त्र 'शरीर' शब्दकी व्याख्या करता है, ***'शर इव ईरयति, इति शरीरः'*** – जो बाणके चुभ जानेपर जिस प्रकार चिर जानेकी पीड़ा होती है, वैसी निरन्तर पीड़ा देता रहता है, वह 'शरीर' कहलाता है। आचार्यजी ! जो भी शरीरवान् हैं – उनकी दशा तो देखिये ! कभी वे काम-पीड़ित हुए औरतकी चाटुकारी कर रहे हैं, कभी क्रोधमें अंधे हुए अपनेसे निर्बल, दुःखी प्राणीपर झल्ला रहे हैं। वे क्रोधमें स्वयं भी जल रहे हैं एवं दूसरोंको भी जला रहे हैं। कभी लोभसे ग्रस्त हुए किसी धनी-कंजूस, अर्थ-लोलुपकी चाटुकारी कर रहे हैं। कभी किसीसे सुखकी आशा करते हैं, कभी किसीसे। वे सदा भयग्रस्त हैं। कभी रोगका भय, कभी धन-नाशका भय, कभी आजीविका-नाश होनेका भय, कभी मृत्युका भय, बुढ़ापेका भय, पापका भय, पद-पदपर उन्हें असुरक्षा एवं भय ही भय है। भयकी परिस्थिति पैदा न होनेपर भी वे सदा चिन्ताग्रस्त रहते हैं। विषाद उनका क्षणभर भी पिंड नहीं छोड़ता। आचार्यजी ! यदि कोई मूर्ख, संस्कारहीन व्यक्ति, जिसका मस्तिष्क इतना विकसित ही नहीं हुआ है कि विचार कर सके, जो प्रवाहवत् भोगोंमें उलझा बह रहा है, वह ऐसी बात करता तो क्षम्य था, परन्तु आप तो विचारशील हैं, आपका विवेक जाग्रत् है, आप अपनेको क्षणभंगुर, नाशवान् सृष्टि-कीट माननेकी अकारण जिद क्यों पकड़े हैं ? यह बात समझमें ही नहीं आती। बुद्धिजीवी होकर आप इन्द्रियजन्य ज्ञानको सत्य समझनेकी भूल कर रहे हैं, जब स्वयं इन्द्रियाँ ही विनाशी हैं। वे स्वप्रकाश ही नहीं, पर-प्रकाश हैं। वे तो मन, जैसे उनको नचाता है, वैसे नाचती हैं। मन-बुद्धि मलिन हैं, तो इन्द्रियाँ मलिनतम वस्तुओंमें रस लेने लगती हैं। मनके कामग्रस्त होनेपर उन्हें मल-मूत्रके सड़े-गले पिण्डमें सौन्दर्य दिखाई पड़ने लगता है। अपान-वायुकी दुर्गन्धसे भरे अंगोंमें उन्हें रमणेच्छा हो उठती है। ऐसी इन्द्रियोंके द्वारा दिखाये जानेवाले दृश्यको ही आप सत्य समझ रहे हैं ? इसे विवेक तो आप स्वयं ही नहीं कहेंगे।"

"आप बुद्धि एवं विचारद्वारा उत्पन्न विवेकसे विश्लेषण करेंगे, तो आपको ठीक अनुभव होगा कि नास्तिसे अस्तित्व व्यक्त हो ही नहीं सकता। असत् नाशवान् संसार है, वह नित्य क्षण-क्षण परिवर्तनशील है। परन्तु इसका आधार

सत्य है। मृत्यु और जन्मका आधार नित्य-जीवन है। वह अखण्ड है, वह अमृत है, अच्युत है, अव्यय है, अविनाशी है। उसका नाश करनेमें कोई समर्थ नहीं है। जिसका व्यय होता है, उसीका नाश संभव है। जो अव्यय है, सदा एकरस है; वह मृत्युका भी द्रष्टा है। अगर मृत्युका कोई प्रमाता, द्रष्टा, साक्षी नहीं होता तो मृत्यु होती ही नहीं। इसी प्रकार जो मृत्युका प्रमाता, द्रष्टा साक्षी है, वही जन्मका भी साक्षी है। हाँ, इतना निश्चय है कि वह जन्मका द्रष्टा जन्ममें अनुस्यूत है। अजन्माका जन्म होना संभव नहीं है, परन्तु वह सर्वसत्ता होनेसे जन्मको सत्ता दे रहा है, स्थितिको भी सत्ता दे रहा है, और विनाशको भी सत्ता दे रहा है। यदि वह जन्म, मृत्यु एवं स्थिति, इन तीनों अवस्थाओंमें अनुस्यूत नहीं होता तो जन्म, मृत्यु एवं स्थिति होती ही नहीं। वह दुःखको भी सत्ता अवश्य दे रहा है। परन्तु वह सुख-दुःख दोनोंसे सर्वथा परे, नित्य आनन्द-स्वरूप है। वह अज्ञानको सत्ता दे रहा है परन्तु स्वयं अज्ञान नहीं है, अज्ञानसे परे मात्र विशुद्ध बोध है।"

"देखिये ! मृत्यु भोगको खा रही है और अमृतमें लीन हो रही है। जन्म नास्तिको खा रहा है और नित्य अविनाशी सत्यका प्रकाश कर रहा है।"

"आचार्यजी ! जो वस्तु आपका हर समय त्याग कर रही है, जो आपके हाथमें ही नहीं आ रही है, प्रतिपल परिवर्तित हो रही है, एवं जो आपको अपनेमें उलझाकर सत्यसे काट रही है, आप उसे पकड़ना चाहते हैं ? वास्तवमें तो उससे अपने-आपको ऊपर उठा लेना ही आपकी बुद्धिमत्ताकी परीक्षा होती।"

"परन्तु कठिनाई तो यह है कि अभी तो आप उस परम नाशवान्‌के मोहमें, जो सत्य है, नित्य है, आपका अपनेसे अपना है, अमृत है, आनन्दस्वरूप, आपका सच्चा परम प्रेमी, हितू, परम मंगलकारी है, उसके अस्तित्वको ही झुठला देनेको कटिबद्ध हो रहे हैं और न जाने किन-किन नास्तिकोंके तर्क पढ-पढ़कर उस परम सत्यकी ओरसे दृष्टि फेर लेनेकी शपथ ले चुके हैं।

मुंसिफ मजिस्ट्रेट - "स्वामीजी ! मैंने सुना था, साधुलोग नेत्रोंके त्राटकसे हिप्नोटाइज (Hypnotise) करते हैं, आप तो अपने धारा-प्रवाह अकाट्य तर्कोंसे मुझे सम्मोहित कर चुके हैं।" (सभी हँसने लगते हैं)

पुलिस पदाधिकारी - "स्वामीजी, आचार्यजीकी तरह मैं भी एक नास्तिक जीव हूँ। मुझे आपसे यही पूछना है कि हम पाप करते हैं, चोरी करते हैं, हत्याएँ करते हैं, असत्याचरण करते हैं, भगवान् हमें तुरन्त दंडित क्यों नहीं करता ? इसी प्रकार, हम सत्य बोलते हैं, ईमानदार होते हैं, तो भगवान् द्वारा हमें पुरस्कृत किया जाना चाहिये, परन्तु देखा जाता है, ईमानदार अधिक कष्ट पाते

हैं। यदि भगवान्की सत्ता है, तो ईमानदार, सच्चा व्यक्ति उसके द्वारा निश्चय पुरस्कृत होना ही चाहिये।"

तरुण सन्यासी - "इन्सपैक्टर साहब ! पहली बात तो यह है, जिसे आप सच्चा, ईमानदार कहते हैं, वह किसके प्रति सच्चा, ईमानदार है ? विचार कीजिये ! आजके कुछ वर्ष पूर्व, मैं विप्लववादी क्रांतिकारी था। अब एक पुलिस-अधिकारी, जो ब्रिटिश हुकूमतके प्रति ईमानदार थे, वे मुझे फाँसीके तख्तेपर चढ़ानेके लिये सच्ची नीयतसे छल-बलसे चेष्टाशील थे। वे थे ईमानदार, इसमें कोई संशय नहीं है। इसी प्रकार एक डाकू भी अपने गिरोहके सरदारके प्रति ईमानदार सच्चा हो सकता है। आप महाराजा बीकानेरके प्रति ईमानदार हो सकते हैं। एक व्यक्ति अपनी पत्नी, बच्चोंके प्रति ईमानदार है, परन्तु माँ-बाप कहते हैं, हमने इसको पाला-पोसा, पढ़ाया-लिखाया, यह हमारे प्रति सर्वथा ईमानदार नहीं है। एक व्यक्ति माता-पिताका भक्त है, उसकी पत्नी रोती है कि इसे माता-पिताकी सेवा करनी थी, तो विवाह करके मुझे क्यों लाया ?"

"तो पहली वस्तु यह है कि हम प्रभुके प्रति ईमानदार हैं, या नहीं ! यदि हम सचमुच ही प्रभुके प्रति ईमानदार होंगे, तो निश्चय ही हम सब कुतर्क छोड़कर प्रभुके अगणित स्नेहमय दानको, प्रतिक्षण पद-पदपर आगे-से-आगे हमारी सुख-सुविधाके लिए उनके द्वारा की हुई व्यवस्थाको गिनने लग जावेंगे। यदि हमारी आँखें फूटी नहीं होंगी – "अजी, ये सब तो संयोगसे यों ही हो जाते हैं, होते रहते हैं, ईश्वर तो भ्रम है" – इस विषके विस्फोटसे हमारी आँखोंकी ज्योति मारी नहीं गयी होगी, तो हमें प्रत्यक्ष दीखेगा कि ओह ! प्रभुके अनन्त असीम उपकारोंकी हम गणना ही नहीं कर सकते। वास्तवमें ही प्रभु-जैसा प्रेमी जगत्में कोई है ही नहीं।"

"आप मेरेसे वयमें वृद्ध हैं, अतः मैं आपको 'पुलिस-अंकल' कह दूँ, तो आपको आपत्ति तो नहीं ही होगी ? आपसे थोड़ा नैकट्यका रिश्ता बना लूँ। तो, पुलिस-अंकल ! आप तुलसीदासजीसे तो परिचित होंगे ही। उनका जीवनचरित्र भी आपने सुना ही होगा। वे जन्मसे ही मातृ-पितृ-हीन थे। कहते हैं कि उनके दाँत भी वयसे पूर्व निकल आये थे। किंवदन्ती तो यहाँतक है कि उनको जो भी स्त्री पालती, वही कुछ कालमें मर जाती थी। अतः इस भयसे उनको कोई रोटी भी नहीं देता था, न ही पालन करता था। अन्ततः उन महात्मा तुलसीदासको नरहरिदास नामक एक महात्माने पाला और वे ही उनके शिक्षागुरु, आध्यात्म-गुरु एवं पालनकर्त्ता माता-पिता भी हुए।"

"तो, श्रीतुलसीदासजीने कभी भगवान्को ऐसा उपालम्भ नहीं दिया कि

"हाय रे भगवान् ! तूने यह क्या किया ? तू मेरे प्रति इतना निष्ठुर क्यों हुआ कि तूने निरे बालकपनमें ही, मैं जब सब विधि असहाय, अशक्त एवं निर्बल था, मुझे मेरी जननीकी गोदसे ही वंचित कर दिया ? मेरे पिताकी छत्रछाया ही मुझपरसे हटाली ?" अपितु, वे भगवान्‌से उलटे और अधिक दण्डकी याचना कर रहे हैं। वे कहते हैं :—

कीजै मोकौं जमजातना मई ।
राम तुमसे सुचि सुहृद साहिबहिं, मैं सठ पीठ दई ।।
गरभवास दस मास पालि पितु-मातुरूप हित कीन्हौं ।
जड़हिं विवेक सुशील खलहिं, अपराधिहिं आदर दीन्हौं ।
कपट करौं अन्तरजामिहुँ सौं, अघ व्यापकहिं दुरावौं ।।
ऐसेहु कुमति कुसेवक पर रघुपति न कियौ मन बावौं ।।
उदर भरौं किंकर कहाइ बेच्यौ विषयन हाथ हियौ है ।
मोसे वंचककौं कृपालु छल छाँडिकै छोह कियौ है ।।
पल-पलके उपकार रावरे जानि बूझि सुनि नीके ।
भिद्यौ न कुलिसहुँ ते कठोर चित कबहुँ प्रेम सिय-पीके।।
स्वामीकी सेवक-हितता सब, कछु निज साँइ-दोहाई ।
मैं मति तुला तौलि देखी भइ, मेरेहि दिसि गरुआई ।।
एतेहु पर हित करत नाथ मेरो, करि आये अरु करिहैं ।
तुलसी अपनी ओर जानियत, प्रभुहि कनोड़ौ भरिहैं ।।

हिन्दी-भावार्थ

अर्थात्, 'हे नाथ ! मेरे-जैसे नीचको नरककी आगमें ढकेल दो, भस्म हो जाने दो।'

"हे राम ! (सभी जीवोंके अन्तरात्मा, सर्वत्र रमण करनेवाले, सर्वत्र व्याप्त) आप जैसे परम पवित्र, सुहृद स्वामीसे, अकारण-हितूसे, हठपूर्वक विमुख रहनेवाले मुझ शठके लिये यही दण्ड उचित है।"

'जब मैं माँके गर्भमें दस मासतक रहा, उस समय उस जठराग्निमें जिसमें अन्न पच जाता है, मुझ एक अल्पतम अणुवत् कीड़ेकी आपने रक्षा की, मेरा पालन-पोषणकर मुझे अभिवर्द्धित किया और एक शिशु-शरीरके रूपमें मुझे विश्वमें प्रस्तुत कर दिया। इसके उपरान्त भी आपके हित करनेकी प्रवृत्तिका अन्त नहीं हुआ। मैं तो उस समय सर्वथा बुद्धिहीन निरा मांसका लोथड़ा था, आपने मुझ मतिमन्दको विवेक दिया, दुष्टको भी सुन्दर, उत्तम शीलका दानकर

सुभूषित किया। मैं अगणित अपराध ही करता रहा, परन्तु आपने उस ओर तनिक भी दृष्टिपात न कर, समाजमें मुझे आदरका पात्र बनाया। फिर भी नाथ ! मेरी कैसी अधमाई है कि मैं उलटा ही चलता रहा।'

'प्रभो ! अन्तर्यामीके प्रति भी कपट, सर्वव्यापकसे भी पाप छिपानेका प्रयास, मेरी ऐसी कुटिलाईके उपरान्त भी धन्य हो, नाथ ! आप मुझसे कभी रुष्ट नहीं होते। मेरे हृदयमें भक्तिका लेश भी नहीं है, परन्तु आप आज भी "ये बड़े भक्त हैं" – यह यश दिलाकर मेरी उदरपूर्ति कर रहे हैं। स्वामिन् ! मुझ नीचका हृदय तो विषयोंके हाथ बिक चुका है, फिर भी ऐसे वंचकके प्रति आपकी कृपा तनिक भी कम नहीं होती, आपके प्रेमका द्वार बन्द नहीं होता ; धन्य है आपकी कृपा-वत्सलता। आपके द्वारा सदा मुझपर निष्कपट भावसे स्नेहकी वर्षा होते रहनेपर भी मेरा वज्रसे कठोर हृदय द्रवित नहीं होता। आपके द्वारा पल-पलमें किये उपकारोंको भली-भाँति जान-बूझकर, सुन-समझकर भी मैं पापी, न तो पिघलता ही हूँ, न ही परिवर्त्तित होता हूँ। हाय ! आपकी इतनी विशुद्ध, निराविल प्रेम-धाराके अजस्त्र बहते रहनेपर भी मेरा हृदय फटकर, गलकर सिक्त नहीं होता, विगलित होकर बह नहीं चलता। यह मेरी कैसी कठोर जड़ मानसिकता है ? मेरे मालिक, सुनो, अपनी बुद्धिरूपी तराजूके एक पलड़ेपर मैंने आपकी भृत्य-वत्सलताकी राशि रख दी, और दूसरेपर अपने स्वामीद्रोहकी किञ्चित् राशि अंशरूपमें रखी, जब मैंने तौलकर देखा, तो पाया कि मेरे स्वामीद्रोहका पलड़ा ही भारी है।'

'फिर भी आप मेरा हित करना स्थगित नहीं करते, जैसा हित भूतकालमें करते थे, उससे अधिक अब वर्तमान्‌में कर रहे हो, एवं भविष्यमें भी मुझे अटूट विश्वास है, कि इससे भी असंख्यगुनी धाराओंमें आपका स्नेह मुझपर प्रवाहित होता ही रहेगा। मुझे पता है, यह आपका अकारण-हितू स्वभाव ही है – अपनी ही ओर देखना, दूसरेकी दुर्गुण-राशिकी ओर कदापि नहीं देखना। अनन्त उपकारोंसे मुझको ही नहीं, ज़ीवमात्रको आप्यायित कर देनेपर भी आप देते ही जाते हो, आपके स्नेहमय दानका कभी विराम होता ही नहीं।"

"तो पुलिस-अंकल, थोड़े श्रद्धाके बीज डालिये। भगवान् निष्ठुर नहीं हैं कि जननीकी गोदसे पुत्रको छीन लें, पिताकी दृष्टिसे पुत्रको ओझल कर दें, पति-पत्नीके प्रेमभरे संबंधोंको छिन्न-भिन्न कर दें, भगवान् धन-लोलुप चोर-डाकू नहीं हैं, जो हमारी संपत्तिका हरण कर लें, वे जागतिक प्राणियोंकी तरह ईर्ष्यालु कदापि नहीं हैं, कि हमारा प्रभुत्व, सम्मान, कीर्ति सहन नहीं कर पावें और उसे नष्ट कर दें। हमारा स्वास्थ्य, सुन्दर शरीर देखकर भगवान्‌को जलन कदापि

नहीं होती, जो रोगसे उसे सुखाकर अस्थिपंजर बना दें ।''

''प्रभु तो निश्चय ही दयाके महान्-से-महान् उदधि हैं। वे लोलुप नहीं, वे तो नित्य पूर्णकाम, आप्तकाम हैं। वे ईर्ष्यालु कदापि नहीं, अपितु हमारा उत्कर्ष उन्हें परम उल्लाससे भर देता है। उनकी दृष्टिमें अशुभका लेश नहीं, परम शुभ, परम मंगल एवं अमृतका स्रोत उनकी दृष्टिसे सतत झरता रहता है। वे लेनेकी दृष्टिसे कुछ भी नहीं लेते, जो कुछ लेते हैं, उसे अनन्त गुना बढ़ाकर देनेके लिये लेते हैं। वस्तुतः सत्य बात यही है कि हमारी मलिन अवस्था उन्हें सह्य नहीं। इसीलिये वे हमारी मलिनता मिटाकर उसमें अपना निर्मल तेज भरकर लौटानेके लिये ही हमारा कुछ लेते हैं।''

''इसे उदाहरणसहित स्पष्ट समझ लीजिये। एक ब्राह्मण-शिक्षक मुझसे कुछ वर्ष पूर्व मिले थे। वे सच्चे, भगवदनुरागी गृहस्थ थे। नियमपूर्वक नाम-जप, पूजा-पाठ करते, वर्षाके दिनोंमें किसी सरोवरके किनारे चले जाते, वहीं संध्या, तर्पण, सूर्यार्घ्य, गायत्रीजप, शिवपूजनादि करके, विद्यालय जानेके समय ही घर लौटते, भोजनादि करके विद्यालय चले जाते। नियमपूर्वक परिश्रमसे पूरे समय मन लगाकर बच्चोंको पढ़ाते, सत्य-निष्ठा रखते, मेहनत और ईमानदारीकी अर्जित कमाईसे गृहस्थका निर्वाह करते। सायंकाल भी संध्या, भजन, पूजा, आरती करके भगवत्प्रसाद पाते, एवं तब शयन करते। संयमपूर्वक रहनेके कारण उनके सन्तानरूपमें एक पुत्र और एक पुत्री ही थी। माता-पिता भी दिवंगत हो गये थे। अचानक उनके एकमात्र पुत्रको थोड़ा ज्वर हुआ। ज्वर बिगड़ता गया और बहुत चेष्टा करनेपर भी वह बचा नहीं, भगवान्ने उसे उठा लिया। उनका अतीव दुखी होना स्वाभाविक ही था। इसी दुःखावस्थामें उनको एक परम विद्वान् महात्मा मिल गये। ये महात्मा जंगलमें गुफामें रहते थे, बहुत ही विरक्त थे। ये सायंकाल नित्य ही उनके सत्संगमें जाते। इन अध्यापक महोदयके कहनेसे नगरके और विद्वान्लोग भी महात्माजीके पास आने-जाने लगे। महात्माजी सबकी शंकाओंका समाधान अति सुन्दर शैलीमें करते। शास्त्र उनको कण्ठस्थ थे। ये महात्माजीको प्रतिदिन अपने घरसे भोजन पहुँचाते और भक्तिपूर्वक उनकी सभी सेवा करते। कुछ दिनों पश्चात् वे महात्मा भी इतने रुग्ण हो गये कि चल-फिर भी नहीं पाते थे, टट्टी-पेशाब भी वहीं बिस्तरोंपर कर देते। इन्होंने जी-जानसे उनकी सेवा की। प्रतिदिन नियमपूर्वक शौच पेशाबसे सने कपड़े दो-दो, तीन-तीन बार स्वच्छ करना, महात्माको नहलाना, नहलाकर वस्त्र पहनाना, सभी सेवा इन्होंने की। कुछ काल पश्चात् महात्माजी भी दिवंगत हो गये।''

"ये शिक्षक-ब्राह्मण मुझसे कह रहे थे कि महात्माकी सेवाके फलस्वरूप मेरा कोई भला होना तो दूर, एकमात्र मेरी पुत्री, जिसका मैंने सच्ची अर्जित कमाईसे विवाह किया था, वह बाल-विधवा हो गयी। वे कह रहे थे कि जामाताके जीवनकी रक्षा हो जाय, इसके लिये मैंने महामृत्युंजयका अनवरत अनुष्ठान किया, शिवार्चनमें मनों दूध, दही, मधु, घृत, चीनी अर्पित की। उस दुःखद मृत्युके समय ईश्वरकी सत्तापर अखण्ड विश्वास करनेका दम भरनेवाले ये ब्राह्मण-शिक्षक हाहाकार कर उठे।"

"वे मेरे पास फूट-फूटकर रो रहे थे, उनकी यही व्यथा थी कि यदि भगवान् मेरे-जैसे व्यक्तियोंके साथ भी ऐसा विधान करेंगे तो कौन उनको भजेगा ?"

"अंकलजी ! आप मेरी सच्ची बात हृदयंगम कर सकेंगे या नहीं, यह तो मैं नहीं जानता, परन्तु ऐसा निष्ठुर विधान करनेके पूर्व भगवान् यही सोचते हैं कि यह मेरी सर्व-विधि सच्ची और भोली सन्तान, मेरी एक कृत्रिम मूर्तिको सत्य एवं नित्य मानकर उसमें आसक्त हो उठी है। वह जामाता बनी मूर्ति, है मेरी ही एक छायामात्र, परन्तु यह उसे परम प्रियजन मानकर इतना भ्रान्त हो गया है कि इसकी आँखें बन्द हो गयी हैं। यह ज्ञान-वैराग्यके अगले सोपानोंपर चढ़ ही नहीं रहा है। हाँ ! यह संध्या, गायत्री आदि शुभकर्म अवश्य कर रहा है, परन्तु कर्म तो नदीका बहाव है। यह नदीके बहावका आश्रय लेनेके कारण नदीके कारणको तो जान ही नहीं पावेगा। शुभकर्म इसकी यात्राको महासागरकी ओर ही कर रहे हैं। वे इसे घोर संसारमें ही चक्कर लगवावेंगे। संसारके कारण मुझ परमात्माको यह इन शुभकर्मोंके प्रवाहमें तो जान ही नहीं सकेगा। हाय ! जिस पथसे इसे जाना चाहिये; उस ओर न जाकर, यह सच्चा, भोला मानव अपनी दिशा उलटी किये है। यह विचारकर ही प्रभु अपनी उस 'जामाता' नामकी कृत्रिम मूर्त्तिको – प्रभुकी ही एकमात्र छाया – जिसे वह ब्राह्मण-गृहस्थ लाड़ला लाल, बेटा, सर्वस्व समझ रहा था, कुछ समयके लिये स्थानान्तरित कर देते हैं।

"ऐसा होते ही उन शिक्षक-ब्राह्मण गृहस्थके चित्तमें अतिशय व्याकुलता उत्पन्न हो जाती है। व्याकुलता तो अग्निके समान है। अतः वह व्याकुलता उनके सब विकारोंको जलाकर, उनके हृदयको और शुद्ध कर देती है। हृदयके शुद्ध होते ही ब्राह्मण-शिक्षकको यह ज्ञान हो जाता है कि इस जगत्‌का स्वरूप ही क्षणभंगुर, अशाश्वत है। वह दुःखालय है ही। बस, ब्राह्मणके सीमित भावका अभाव हो जाता है। वे पूर्ण अभय हो जाते हैं। उन्हें संसारसे सच्ची निराशा हो जाती है। जीवनमें ही उन्हें मृत्यु दीखने लगती है। उन्हें अपना घर, धन-

सम्पत्ति सब होते हुए भी विनष्ट ही दीखते हैं। वे सब ओरसे निवृत्त होने लगते हैं। इन्द्रिय-जन्य संसारकी घोर असत्ता जानकर वे ब्राह्मण देवता बुद्धि-जन्य ज्ञानका आश्रय ले बैठते हैं। संसारकी असत्ताका अनुभव होनेपर उनका राग समूल मिट जाता है। रागके मिटनेसे अविचारकी समाप्ति हो जाती है। बस, वे अपनेको शरीर समझनेकी भूल त्याग देते हैं। शरीर समझनेकी भूलके हटते ही ब्राह्मण देवता भगवत्पदपर विराजित हो जाते हैं।''

''बताओ, पुलिस-अंकल ! यदि आप मेरे भावोंको हृदयंगम कर चुके होंगे तो निश्चय ही समझ गये होंगे, कि प्रभुकी यह निष्ठुर चेष्टा, मात्र डाक्टर द्वारा किया एक जहरीले फोड़ेका ऑपरेशन-भर था, अमंगलमय, अहितकारी दुःखदान कदापि नहीं था। अंकल ! मेरी-आपकी बहिर्दृष्टि तो स्वस्थ, सुन्दर शरीरके होनेको ही शुभ मान रही है, हमारी दृष्टि धन-सम्पत्तिकी अभिवृद्धिको ही परम स्नेहदान समझ रही है। हमारी दृष्टि प्रतिष्ठारूपी शूकरी-विष्ठाको ही प्रभुका वरदान मान रही है। परन्तु हम भ्रमित हो सकते हैं, प्रभु तो अनन्त ज्ञानके एकमात्र स्रोत हैं, वे तो भ्रमित नहीं ही हो सकते। अतः प्रभु जब हमारी धन-सम्पत्तिका हरण कर लेते हैं, तो जो धन-सम्पत्तिके भ्रममें हम गंदे कीचड़की पन्द्रह तहें लपेट चुके हैं, वे उसे ही धोकर स्वच्छ करते हैं।''

''पुलिस अंकल ! सदा ध्यान रखें, चोरी, हिंसा, झूठ, पाखण्ड, काम, क्रोध, गर्व, अहंकार, भेद-बुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्द्धा, लम्पटता, जुआ, शराब – ये पन्द्रह महादोष, महापाप, मात्र धनसे ही उत्पन्न होते हैं। प्रभु देखते हैं कि यह मेरा लाड़ला लाल इन पन्द्रह बुराइयोंमें नीचेसे-ऊपरतक सन जायेगा, यदि इसके पास धनकी अभिवृद्धि हुई। बाह्यदृष्टि रखनेवाले सोचते हैं, 'हाय ! यह इतना दान करता था, इसके घरसे कोई खाली हाथ नहीं लौटता था, इसने अस्पताल, धर्मशालाएँ, अन्नक्षेत्र, पाठशालाएँ बनायीं, पर भगवान् भी कैसा निष्ठुर है ? इसको दर-दरका भिखारी बना दिया, इसकी सब प्रतिष्ठा धूलिमें मिलादी । परन्तु, इन सब, इस प्रकार सोचनेवालोंको यह कहाँ पता है कि इन अस्पतालों आश्रमों, धर्मशालाओं, पाठशालाओंके कारण इसका गर्व, अहंकार, अभिमान बढ़ता ही जा रहा था, जो इसे सत्यके प्रति अंधा कर दे रहा था । वे कहाँ इतना गहन विश्लेषण करते हैं कि दूसरोंसे पुण्यमें भी स्पर्द्धा करनेवाली इसकी प्रकृति इसे अन्तर्मुख होने ही नहीं दे रही थी, भव-प्रवाहमें बहाये ही जा रही थी, जिसका कहीं ओर-छोर ही नहीं था ? उन्हें क्या पता कि अपनेमें गुण-बुद्धि करके यह अन्य प्राणियोंको पुण्यमें, समृद्धिमें यशमें, बुद्धिमें, तुच्छ समझ रहा था और सियाराममय विश्वको अपनी मंदबुद्धिकी विष-बेलिसे लपेट

रहा था ।

"अहा ! स्वयं पूर्णकाम होनेपर भी प्रभुको हमारे हितका कितना ध्यान है ? वे हमारी संपत्ति कभी नहीं हरते। हाँ, संपत्तिके रूपमें घोर विपत्तिका, जिसे हमने 'संपत्ति' संज्ञा दे दी है, उसका ही उनके द्वारा नाश होता है।"

"इसी प्रकार, प्रभु जब देखते हैं कि प्रतिष्ठाके छलसे घोर विष हमारे गले उतर रहा है, और विष भी अब अपना मरणान्तक असर करने लगा है, प्रतीकार किये बिना इस विषकी ज्वालामें हम भस्म ही हो जायेंगे, तब वे पहला यही काम करते हैं कि प्रतिष्ठाका प्याला फोड़ देते हैं। फिर अपमानके रूपमें विरोधी औषधि देकर चढे हुए जहरको उतार देते हैं। अकारण, निरर्थक वे हमारी प्रतिष्ठाका अपहरण कदापि नहीं करते। अंकल ! कभी-कभी हीरेको और चमकीला बनानेके लिये भी खरादपर चढ़ाया जाता है। राजा हरिश्चन्द्रकी सत्यनिष्ठाको स्थायी बना देनेके भावसे ही भगवान्‌ने घोर परीक्षाएँ लीं थी और उन कठोर परीक्षाओंसे उसकी प्रतिष्ठा प्रभुने परमोज्ज्वल एवं स्थायी कर दी।"

हमारी और प्रभुकी दृष्टिमें आकाश-पातालका यही अन्तर है। हम देखते हैं – यह हमारे प्यारे बेटेका शरीर है। प्रभु देखते हैं – यह मेरे प्यारे शिशुपर लपेटा एक वस्त्र-मात्र है। अमुकका वस्त्र ऊपरसे देखनेमें तो सुन्दर दीखता है, परन्तु भीतर-ही-भीतर यह गलित कुष्ठके विषैले कीटाणुओंसे भर गया है। प्रभुकी परम शुभ दृष्टि इस बातपर उपयुक्त समयपर चली ही जाती है। बस, वे हमारा वस्त्र बदल देते हैं, पुराना उतारकर हमारी वासनानुसार नवीन वस्त्र हमपर लपेट देते हैं। अबोध शिशु, जिस प्रकार माता द्वारा नया वस्त्र बदलनेपर चीत्कार करता है, उसी प्रकार हम मचलते हैं, रोते हैं, परन्तु प्रभु, स्नेहमयी जननीकी तरह हमारा रोना सुन कर हँसते हैं।"

"पुलिस अंकल ! यदि आप इन सभी तथाकथित विपत्तियोंके अवसरोंपर प्रभुको, उनके मंगलमय हाथोंको महामंगलवर्षा करते देख लेते तो सदा-सदाके लिये आपको विपत्तिका दीखना ही बन्द हो जाता।"

"सच्ची बात यह है कि हमारी बुद्धि बहुत ही सीमित है। वह प्रभुके समग्र विधानको इष्ट और अनिष्ट – दो भागोंमें विभाजित कर लेती है। हम यह कदापि नहीं सोचते कि आज जो अनिष्ट है वह कल परम इष्ट बन सकता है। विचार करें, एक किसानके पास मात्र १०० किलो गेहूँ है। वह यदि अनिष्टके भयसे इसे बीजके रूपमें खेतमें बो देता है, तो इतना ही गेहूँ उसे वर्ष-दोवर्षका खानेका अन्न प्रदान कर देता है। इसी तरह प्रभुके समग्र विधानमें अमावस्याका तम आता ही है – चन्द्र ज्योत्स्नाको प्रकट करनेके लिये । ग्रीष्मका ताप आता

है – वर्षाकी शीतल धारासे पृथ्वीको सींचकर प्रफुल्लित कर देनेके लिये। पतझड़ आता है – नव बसन्तके लिये। विश्वमें यदि कुछ भी ध्वंस होता है, तो अधिक सुन्दर नवनिर्माण के लिये ही होता है। हमारा जहाँ भी यदि अनिष्ट हुआ है, तो निश्चय ही मानलें, वह सबका सब हुआ है – मात्र हमारे परम इष्टकी योजना बनानेके लिये ही। रात्रिके पश्चात् दिन, बिना व्यतिक्रमके आवेगा ही।''

पुलिस अधिकारी - ''स्वामीजी ! आपकी बातें सचमुच बहुत ही सकारात्मक हैं। परन्तु मैंने सच्चे गरीबोंकी झोंपड़ियाँ दुष्ट जागीरदारों द्वारा जलायी जाती देखी हैं, वहाँ कहीं भी उनके महल बनते नहीं देखे। गरीबोंको और गरीब, और अधिक गरीब होते देखे हैं। मैंने पिशाचों द्वारा गरीब-गुरबोंके ध्वंसकी विभीषिका देखी है, परन्तु कहीं भी मेरे सम्मुख पुनर्निमाणका दृश्य नहीं आया। सत्यशील लोगोंपर, ईमानदार अफसरोंपर, सती-साध्वी स्त्रियोंपर अनिष्ट तो बारबार आते सुनता हूँ, परन्तु पापियोंका ही इष्ट होते देखता हूँ, पुण्यात्मा जीव तो अनिष्टमें ही पिसते दीख रहे हैं।''

तरुण सन्यासी - ''पुलिस अंकल ! हमारा जीवन अनादि-अनन्त इतिहासकी एक पोथी है। वर्तमान जीवन उसी पोथीका एक पृष्ठ है। यदि इस सारे पृष्ठपर जलनेकी, ध्वंसकी, अनिष्टकी कथा लिखी है, इनके ही चित्र यदि हमारे एक जीवन-पृष्ठपर अंकित हैं, तो आवश्यक नहीं इसी पृष्ठपर पुनर्निर्माण और इष्टकी सुखद गाथा भी लिखी ही जाय। ध्वंसका वर्णन पूरा होनेपर ही तो निर्माणका प्रारंभ होगा। यदि हमारा यह जीवन ध्वंसाध्याय ही होगा, तो इस पृष्ठमें न सही, अगले जन्मोंमें या मरणानन्तरकी गतियोंमें ही सही, नवीन, नूतन निर्माण होगा अवश्य ही। यह हो नहीं सकता – ध्वंस ही ध्वंस हो। ध्वंस निर्माणका ही होता है। जहाँ निर्माण ही नहीं वहाँ ध्वंस संभव ही कहाँ है ? अतः निर्माण तो निश्चय होगा, होगा, अवश्य होगा ही। किसी भी प्राणीके जन्मके पश्चात् ही, विपत्तियाँ आती हैं और संपत्ति भी आती है, और उसका नाश भी होता है।''

''पृष्ठके उलटनेपर हमें निश्चय ही दीख जायेगा कि जगन्नियन्ताके क्रममें अनिष्टके पश्चात् इष्टकी प्राप्तिवाले अध्याय, बिना व्यतिक्रमके अंकित होंगे ही। फिर यह इष्ट-अनिष्टकी भावना देहादि अनात्म-पदार्थमें अभिनिवेश होनेसे ही है।''

''मानव-जीवन तो हमें मिला ही इसीलिए है कि हम दुत्कार एवं सत्कारकी ओर न देखकर पुरस्कारदाताको पहचान लें। सत्कार तो क्षणभंगुर है, अनित्य है। वह एक दिन दुत्कार करायेगा ही, अतः हमारी दृष्टि कहीं इन

दोनोंसे हटकर सत्कारकर्ताको पहचान ले, प्रयत्न यही करना है।"

"अंकल ! बुद्धिको सागरके वक्षस्थलपर आते ज्वार-भाटेपर केन्द्रित नहीं करें। यह निश्चय है कि भाटेके पश्चात् ज्वार आयेगा, परन्तु वह भी आवेगा जानेके लिए ही वह हमें अखण्ड, शाश्वत शान्ति कदापि नहीं देगा। यदि ज्वार-भाटेसे दृष्टि हटाकर हम कहीं सागरके भीतर प्रवेश करके देख पाते, तो हमें दिखता इन तरंगोंसे कुछ ही दूर नीचे जानेपर समुद्रका गर्भ सर्वथा अखण्ड, शान्त है। ठीक इसी प्रकार ऊपर तो इस विश्वमें निश्चय ही विषयोंके आवागमनकी आँधी चल रही है, परन्तु यह विषयोंकी अथाह लहरोंकी उछल-कूदवाला विश्व जिस परमात्माके आधारपर अवलम्बित है, उस आधारमें क्षोभ नहीं, विकलता नहीं, पूर्ण शान्तिका अखण्ड साम्राज्य है।"

"प्रभु ! पूर्ण शान्त हैं, पूर्ण प्रसन्न हैं, वे शान्तिरूप ही हैं, अमृतस्वरूप ही हैं, प्रभु रसस्वरूप, प्रेमस्वरूप हैं । उनको पाये बिना स्थायी रस-भाजन आप कदापि नहीं हो सकते ।"

पुलिस पदाधिकारी - "स्वामीजी ! आपकी अनमोल अमृत-बातें तो हम भले सुन लें, जबतक आपकी संकल्प-परिधिमें बैठे हैं, आपके विचार-वर्त्तुल हमें प्रेम, रस, आदि शब्दोंके सब्जबाग भले दिखा दें, यहाँसे जाते ही, हमारे लिये तो वही अपराध जगत् खड़ा हो जायेगा। चोरोंका चिन्तन करो, मारो-पीटो, चोरी कबूल कराओ, अफसरोंकी जी-हुजूरी करो, उनकी उलटी-सीधी, अच्छी-बुरी माँगें पूरी करो। क्या यह संभव है कि हमारा दुष्ट चंचल मन एकाग्र हो पावे, और हम आपके परमात्माको छू सकें ? हमारे पास तो ऊपर अशान्ति, नीचे पाप, दाहिने कलह, बायें क्लेश, बाहर नरक और भीतर वासनाएँ ही वासनाएँ हैं। हमने तो आपके मुखसे ही ये अमृत-विचार आज अभी सुने-भर हैं। क्या यह संभव है, हम मनको एकाग्रकर उसके भीतर प्रवेश कर पावें, परमेश्वरको छू लें; हमें यह आपकी बतायी पूर्ण शान्ति मिल जाये ?"

तरुण सन्यासी - "चाचा ! अवश्य संभव है। वे शान्तिस्वरूप प्रभु आपकी बाट देख रहे हैं। वे आपके पथपर नयन बिछाये हैं कि कब आप बाहरकी दृष्टि समेटकर भीतरकी ओर अपनी गति कर लें। जिस वेग एवं शक्तिको खर्च करके हम बाहरके विषयोंको पानेकी दौड़ लगा रहे हैं, वह हमारा शक्ति-व्यय, हमारी उड़ान, दौड़, कहीं भीतरकी ओर, जहाँ हमारे अन्दर प्रभु नित्य विराजित हैं, हो जाय तो निश्चय ही मान लीजिये, अमृतस्वरूप प्रभुसे हमारा मिलन हो ही जाय।"

"चाचा ! पहले बुद्धिमें भगवान्‌को निश्चयपूर्वक पूरा भर लीजिये। सब

प्राणियोंमें एक मेरे इष्टदेव ही छिपे-भरे हैं, वे सबकी आत्मा हैं, वे सर्वत्र व्याप्त हैं, वे मेरे इष्ट सब जीवोंके अन्तरात्मा हैं; वे सम्पूर्ण कर्मोंके अध्यक्ष हैं, सब भूतोंके अधिष्ठान हैं; सबके साक्षी हैं, ब्रह्मासे लेकर कीट-पर्यन्त सबको चेतना देनेवाले मेरे इष्ट परमात्मा ही हैं। वे मेरे इष्टदेव मेरे शरीरमें नखसे लेकर शिखा-पर्यन्त अनुप्रविष्ट हैं। भूत, वर्तमान, एवं भविष्यका सब जगत् मेरे परम-आत्मीय परमात्माका ही तो स्वरूप है।''

''चाचा ! इस प्रकार जब बुद्धिमें प्रभुके, हमारे इष्टके स्वरूपका निश्चय हो जाय, तब भी उसके मननकी, बार-बार स्मरणकी आवश्यकता रहती ही है, अन्यथा विषयोंके बाजारमें दौड़ते हुए मनके द्वारा पथका भूल जाना साधारण बात है। हम बार-बार मनन करें, क्रिया-जन्य रस और कर्मसे तो हमें आजतक पूर्णताका अनुभव हुआ नहीं। हम बचपनसे अबतक, सारे जीवन, जागनेसे सोनेतक अनवरत कर्म करते-करते बूढ़े हो गये, क्या मिला ? कर्मसे मात्र भोग ही मिल सकता है, और भोगसे तृप्ति होती ही नहीं। विचार करिये, कर्म करते-करते आप ऊँचे पदाधिकारी सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस बन गये, अब और इन्सपैक्टर जनरल हो जावेंगे, तो भी क्या होगा ? क्या वर्तमान आई.जी.तृप्त हैं, कृतकृत्य हैं ? यदि आप महाराजा गंगासिंह हों तब भी कर्मसे क्या तृप्ति और पूर्णता मिलेगी ? यह रास्ता ही बीहड़की ओर जाता है। इस पथमें सुख, शान्ति, पूर्णता, कृतकृत्यता है ही नहीं । इस प्रकार अपना सोच बनाते हुए प्रभुके स्वरूपका खूब मनन करें।''

''प्रभु अनित्य पदार्थोंमें नित्य-विराजित हैं, चेतनोंमें पूर्ण चैतन्य वे ही हैं। वास्तवमें ही प्रभुके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु है ही नहीं, हो सकती ही नहीं। हमें जो कुछ भी अच्छा-बुरा, अनुकूल-प्रतिकूल, शत्रु-मित्र, इष्ट-अनिष्ट दीख रहा है, सभी रूपोंमें जो अन्यकी प्रतीति हो रही है, वह केवल इसीलिये है कि झूठे ही हमने अन्यकी सत्ता मानली है। जैसे स्वप्नके समय हम और हमारा मन अकेले होते हुए भी एक विचित्र सृष्टि कर लेते हैं, जाग्रत् अवस्थामें मनोरथ करते समय जब हम मनोरथोंके प्रवाहमें बहने लगते हैं, तो कितना विचित्र संसार खड़ा हो जाता है। मनकी कल्पनासे ही तो यह स्वप्नकी सृष्टि एवं मनोरथका संसार प्रतीत होता है । यद्यपि इस स्वप्न एवं मनोरथके संसारमें सर्वथा सब ओर हम-ही-हम भरे हैं। ठीक इसी प्रकार, इस जगत्‌में प्रभु-ही-प्रभु भरे हैं परन्तु प्रभुके संकल्पसे प्रभु ही अनेक हुए हमें दिखते हैं। अनन्त लीलामय प्रभु ही शत्रु-मित्र, अपने-पराये, इष्ट-अनिष्ट, भला-बुरा, राग-द्वेषके रूपमें हमारे सम्मुख व्यक्त होकर हमारे विश्वासकी परीक्षा ले रहे हैं। सत्ता है, एकमात्र

उनकी ही। परन्तु वे लीलामय ही अनेक मुखौटे लगाकर हमारे सामने अनेक होकर आ रहे हैं। इसीलिए सबसे सीधा उपाय है, कि हम अन्यका संकल्प-विकल्प करनेवाले हमारे मनको ही प्रभुमें निरुद्ध कर दें। मन जैसे ही उनमें निरुद्ध होगा, फिर एकमात्र उनके सिवा किसीकी सत्ता बचेगी ही नहीं। फिर हम पूर्ण निर्भय, प्रभुकी गोदमें, उनके अटल-अखण्ड आश्रयमें उनके पूर्ण शरणागत होंगे। मन प्रभुमें तन्मय हुआ नहीं कि इन्द्रियाँ भी अपने आप प्रभुमें लग जावेंगी।''

''चौबीस घण्टोंमें एक घण्टे भी यदि हमारा मन तन्मय हो गया, और बुद्धिने ठीक अटल निश्चय कर लिया कि अनन्त ऊँचे-नीचे, अच्छे-बुरे थपेड़े देनेवाली लहरें कुछ नहीं, मात्र समुद्र हैं, बस, फिर हमारे नेत्रोंके सामने जो भी रूप आवेगा, हमारा मन हमें याद दिला ही देगा – ''हमारे प्रभुका ही यह रूप है; हमें प्रभुके ही दर्शन हो रहे हैं।'' कानोंमें कटु-मधुर, अनुकूल-प्रतिकूल, आदर-अनादरका कोई भी शब्द पड़ा नहीं, हमें ठीक मन याद दिला देगा – ये तो हमारे प्रभु ही बोल रहे हैं, हमें प्रभुके ही शब्द सुनाई पड़ रहे हैं। नासिकामें **किसी प्रकारकी गंध आवे, हम अनुभव करेंगे कि इस** गंधके रूपमें प्रभु ही व्यक्त **हो रहे हैं। कैसा भी स्पर्श प्राप्त होगा, हमारा मन हमें** यह याद दिला ही देगा **कि हमें प्रभुका ही स्पर्श प्राप्त हो रहा है। रसना जिस** रसका भी आस्वाद ले, **मन हमें यह भान करा देगा कि इस रसके रूपमें हमारे** प्रियतम प्रभु ही आस्वाद्य बने हुए हैं।'' बस, फिर बुद्धि एवं मनके साथ हमारी इन्द्रियाँ भी प्रभु-परायण हो जावेंगी।''

''निश्चय करें – प्राथमिकता हमें बुद्धिको ही देनी है। यदि बुद्धि ही शरीरवादी होगी, तो नींव कच्ची रहनेसे महल कभी नहीं खड़ा होगा। बुद्धि यह दृढ़ निश्चय कर ले, कि चित्स्वरूप प्रभुकी ही सर्वत्र सत्ता है। फिर मन प्रभुके गुणोंका, रूपका, तत्त्व-रहस्यका विचार मनन करता उसमें निरुद्ध हो जाय, अब इन्द्रियाँ भी उनके ही अनुगत हो उठें, बस, हमें अखण्ड परमात्माकी सेवाका अवसर मिल जायेगा।''

''एक बात सदा ध्यानमें रखें – जिसके हृदयमें किसीसे कुछ भी लेनेका, कामनाका, चाहका भाव है, वह सेवा नहीं कर सकता। अतः पहले हमें अपने अन्दर प्रभु पूर्ण भरे दीखेंगे, जो पूर्णकाम हैं, तभी हम अन्य किसीकी भी सेवा करनेके पात्र होंगे। प्रभुके अतिरिक्त तो अन्य कोई है नहीं। अतः प्रभु जब खूब ठोक-बजाकर हमारी पूर्णकामताको जाँच लेंगे तभी हमें अपना सेवाधिकार देंगे।''

''चाचा ! जीवन ज्ञान, भाव, और क्रिया इन तीनोंसे मिला हुआ है। अतः हमारे द्वारा इन तीनोंका पूर्ण सदुपयोग होना चाहिये। ज्ञान-शक्ति यह अनुभव

करे कि मेरा नाशवान्, दुःख, रोग, भय, अभावके प्रतिरूप इस शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं है। मेरा कोई व्यक्तित्व नहीं है। मेरा प्रभुसे अखण्ड, नित्य, अविनाशी, अजस्र, अविच्छिन्न सम्बन्ध है और वे ही मेरे व्यक्तित्व हैं। भाव-शक्तिसे यह धारणा हो कि प्रभु पूर्णकाम, सर्वत्र, सर्वशक्तिमान् और सर्व-सुहृद हैं। वे मेरे हैं और मुझसे एकमेक हैं, अतः मैं किसीके दुःखका हेतु कभी नहीं होऊँ। अब क्रियाशक्ति भले ही संसाररूप प्रभुकी सेवामें लग जाय, किन्तु यह सावधानी एवं जाग्रति बनी रहे कि जिनकी भी सेवा मुझसे हो रही है, वे पूर्णरूप प्रभु ही हैं। यह प्रभुकी मुझपर पूर्ण कृपा है कि उन्होंने मुझे सेवाका अवसर दिया। निश्चय ही प्रभुकी सांसारिक मूर्तियोंकी सेवासे मेरा कल्याण हो ही जायेगा। यह होते ही निश्चय ही मानिये, हमारी प्रत्येक क्रिया ही आनन्द एवं कृतकृत्यतारूप फल देनेवाली हो जायगी।"

"फिर हमारी वाणी प्रभुकी सेवा-ही-सेवा करेगी। हमसे यदि चिथड़ा लपेटे राहका भिखारी मिलने आवेगा, तब भी हमें यही अनुभव होगा – 'प्रभु ही पधारे हैं।' हम आगे बढ़कर अमृतमयी वाणीसे उनका सत्कार करेंगे। प्रभु चाहे कोई भी वेष धारण किये हों, हैं तो सम्राटोंके सम्राट् ही। बस, सम्राट्‌की सेवा उनके अनुरूप ही होनी चाहिये। यदि हमारी आँखें प्रभुको भिखारीके रूपमें ठीक देखती रही तो हमारे आभ्यन्तरिक आदरभाव और अपनत्वमें तो कहीं कोई तिलभर भी उनके प्रति अन्तर आ नहीं पावेगा। बस, यह होते ही परीक्षामें हम उत्तीर्ण हो जावेंगे और प्रभुकी कृपासे उस भिखारीमें ही हमें प्रभुका वह सच्चिदानन्दघन, अप्राकृत सौन्दर्य-माधुर्यसे ओत-प्रोत रूप दीख जायेगा कि हम निश्चय ही सिद्ध महात्मा हो जावेंगे।"

पुलिस अधिकारी - "स्वामीजी ! निश्चय ही अब तो मुझे ये पुलिस-वर्दीके बटन खोलने ही पड़ेंगे। यह सब आप-जैसे महात्माके नित्य-संग और जागरूक अनुशासनके बिना संभव नहीं है।"

तरुण सन्यासी - "चाचा ! वर्दीके बटन नहीं, संसार और शरीरको, बिना हुए ही सत्य समझनेकी ग्रन्थियाँ जो आपने अपनी मन-बुद्धिमें गूँथ रखी हैं, उन्हें खोल दीजिये। संसार और शरीर आजके कुछ ही विगत वर्षों पूर्व नहीं था, और कुछ ही विगत वर्षों पश्चात् भी यह नहीं रहनेवाला। यह तो वर्तमानमें मात्र मध्यमें ही भास रहा है। यह वर्तमानकी मिथ्या प्रतीतिभर है। अतः इसका निर्वाह प्रारब्धानुसार करते जाइये। इसे सत्य मानकर इसके पीछे पागल मत होइये। जो आदि में थे, अन्तमें भी रहेंगे और मध्यमें भी हैं, परन्तु अपनी मायासे मध्यमें संसारवत् दृष्टिगोचर हो रहे हैं, उन अपने परम प्रियतम प्रभुको क्षण भरके लिये

भी विस्मृत मत करिये; यही बटन (ग्रंथि) खोलना है। आप जिस ग्रन्थिमें उलझे हैं, उस भूल-भूलैयासे बाहरभर आना है।''

''चाचा ! आप सभी स्वरूपतः पूर्ण परमात्मा थे, पूर्ण-पूर्ण परमात्मा ही हैं, एवं इस अखण्ड सत्यसे कभी भी कोई विचलित हो पावे, यह संभव ही नहीं है। मुझ अकिंचन भिक्षुकका सभी अभिवादन स्वीकार करें ।''

सभी अधिकारीगण हँसते हुए, अतिशय श्रद्धा-भावसे पूर्ण समाधान प्राप्त करते हुए, संतुष्ट होकर विदा लेते हैं।

(यह सारा प्रसंग तत्कालीन मुंसिफ श्रीगोपाल आचार्यकी व्यक्तिगत डायरीसे उद्धृत है। कतिपय लोगोंने मिलकर इसे चूरूमें नोट किया था। यह डायरी उनकी मृत्युके बीस-बाईस वर्ष पश्चात् अति जीर्ण-शीर्ण अवस्थामें मुझे प्राप्त हुई थी। पन्ने इतने गल गये थे, दीमकों द्वारा भी उन्हें मध्यमें क्षत कर दिया गया था; अतः अनेक स्थलोंको पू. राधाबाबाके प्रकाशित लेखोंसे पूर्ण करना पड़ा है। - साधुकृष्णप्रेम)

महाभाव-दिनमणि
श्रीराधाबाबा

द्वितीय-खण्ड
द्वितीय अध्याय
प्रवचन-उपदेश

विषय :

१. हम भगवान्‌के हो जावें
(ईडन-गार्डन्स, कलकत्ता)

२. स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः
(गोविन्द भवन, कलकत्ता)

सार-संग्रह

(इन्हीं उपदेशोंसे)

(१)

जैसे ही हमें अनुभव हो जायेगा कि हम तो भगवान्‌से एकमेक हैं, शरीरसे हमारा कोई सम्बन्ध ही नहीं रहेगा। जैसे सर्पकी केंचुलीका त्याग करदेनेसे सर्पकी कुछ भी क्षति नहीं होती, उसी प्रकार शरीरकी क्षति एवं नाशसे हमारा बाल भी बाँका नहीं होगा। अमृतस्वरूप भगवान्‌के शरणागत हमारा मौत भला क्या बिगाड़ सकती है ?

x x x x x

हम भगवान्‌के हैं - इस अपनेपनके सम्मुख योग्यता, पात्रता, अधिकार आदि कुछ भी महत्व नहीं रखते । यह सम्पूर्ण साधनोंका फल है। जिसे भगवान्‌की आत्मीयता पर विश्वास है, वह सदा मृत्युके मस्तकपर पैर रखकर चलता है और मृत्यु उसका बाल भी बाँका नहीं कर सकती।

x x x x x

'मैं भगवान्‌का हूँ' यह तथ्य है। यह हमारे मानने, नहीं माननेकी अपेक्षा नहीं रखता। भगवान्‌से हमारा संबंध अटूट, अखण्ड नित्य है।

(२)

परमात्माको प्राप्त करनेकी कोई अवधि नहीं है। जैसे ही मनुष्य शरीर एवं इन्द्रियोंके भोगोंसे विरक्त हुआ, असत्, नाशवान्, परिवर्त्तनशील पदार्थोंसे उसका राग निवृत्त हुआ, बस, वैसे ही उसी क्षण वह भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है।

x x x x x

हमें परमात्माकी नित्य सब समय प्राप्ति है। परमात्माको प्राप्त करनेमें शरीर एवं इन्द्रियोंकी किसी भी चेष्टाका आश्रय लेनेकी सर्वथा आवश्यकता नहीं है।

x x x x x

यदि हम सावधान होकर जो हमें छोड़ रहे हैं, उनके रागसे निवृत्त हो जावें, तो बस, हम परमात्मासे इसी क्षण एक हो जावेंगे, क्योंकि परमात्माके सिवा सबकुछ स्वतः ही हमें छोड़ रहा है। हमें उसे छोड़नेमें किसी भी चेष्टा, प्रयास, श्रम एवं साधन कुछ भी करनेकी तनिक भी आवश्यकता नहीं है।

x x x x x

भगवान्‌ने जीवको मनुष्य जन्म देकर जन्म-मरणके प्रवाहसे निकालनेका अचूक अवसर दिया है, साथही अपनी प्राप्तिका पूरा अधिकार भी दिया है।

x x x x x

हम चाहें तो मात्र बारह मिनट अर्थात् आधी घड़ीके सद्विचारोंसे अपना जीवन बदल सकते हैं एवं भक्ति और ज्ञानकी सर्वोच्च अवस्था भगवान्‌को प्राप्त कर सकते हैं। भगवान्‌से उच्च न तो कोई पद है, न ही कोई उच्च स्थिति (गति) ही संभव है।

।। श्रीराधा।।

उपदेश संख्या - एक (१)

हम भगवान्‌के हो जावें

उपदेशक :

परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

(भविष्यमें – परम पूज्य श्रीराधाबाबाके नामसे विख्यात)

प्रवचन लिपिबद्ध करने वाले :

श्रीदेवदत्तजी मिश्र एवं उनके सहयोगी अध्यापकगण

स्थान :	*दिनांक :*	*प्राप्ति-सूत्र :*
ईडनगार्डन्स, कलकत्ता विक्टोरिया मेमोरियलके निकटस्थ स्थानमें	सत्यतिथि अज्ञात अनुमानित फरवरी १९३८	श्रीदेवदत्तजीमिश्रके पत्र-संग्रहकी कापी।

आलोक

सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दका कलकत्ते आये हैं। उनके साथ ही स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज एवं स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज भी कलकत्ता आये हुए हैं। सत्संगका आयोजन किया गया है। प्रातःकाल सेठजी श्रीजयदयालजी स्वयं, गोविन्दभवन कार्यालय, बाँसतल्ला गलीमें सत्संग कराते हैं। मध्याह्नको उसी स्थानपर स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजका सत्संग होता है। सायंकालीन सत्संग ईडनगार्डन्समें स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराजका होता है। आज रविवार है। हजारों लोग सत्संग सुनने बैठे हैं। एक ओर पुरुषों एवं दूसरी ओर महिलाओंके बैठनेकी व्यवस्था है। एक लकड़ीके तखतका मंच है, जिसमें पूज्य स्वामीजीका आसन लगा है।

पूज्य श्रीस्वामीजी द्वारा मंगलाचरण एवं प्रवचनका प्रारंभ

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात् कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ।।

पराकृतनमद्‌बन्धं　परं　ब्रह्म　नराकृति ।
सौन्दर्यसारसर्वस्वं　वन्दे　नन्दात्मजं　महः ।।
वसुदेवसुतं　देवं　कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं　कृष्णं　वन्दे　जगद्गुरुम् ।।
कस्तूरीतिलकं ललाटपटले　वक्षःस्थले कौस्तुभं ।
नासाग्रे वरमौक्तिकं करतले वेणुः करे कङ्कणम् ।।
सर्वाङ्गे हरिचन्दनं सुललितं　कण्ठे च मुक्तावली ।
गोपस्त्रीपरिवेष्टितो विजयते गोपाल चूड़ामणिः ।।
सच्चिदानन्दरूपाय　विश्वोत्पत्त्यादिहेतवे ।
तापत्रयविनाशाय श्रीकृष्णाय　वयं　नुमः ।।

परमात्मस्वरूप बन्धुओं और माताओं ! मुझ अकिंचन साधुका सभीके चरणोंमें प्रणाम । हम सभी यहाँ सत्संग करने आये हैं। 'सत्संग' दो शब्दों 'सत्' एवं 'संग'के योगसे बना है। सत्‌का अर्थ है सत्य अथवा परमात्मा एवं संगका अर्थ है, उसे अपना मानना, उससे मेल करना ।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् स्वयं अपने मुखसे इन तीनों शब्दों – *'ॐ', 'तत्', एवं 'सत्'* को अपने वाचक नाम बतलाते हैं।

''ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृत : । (१७/२३)

अर्थात्, ब्रह्म (परमात्मा) को स्मृतियोंमें तीन नामों 'ॐ', 'तत्' एवं 'सत्' से निर्दिष्ट किया गया है''

तो यहाँ हम सभी एकत्र हुए हैं, सत्स्वरूप परमात्माका संग करने, उससे मेल-मिलाप, प्रेम करने, उसे समझने, पहचानने और उस परमात्मासे हमारा सम्बन्ध क्या है, इसे जानने।

'सत्' शब्द अस्तित्ववाची है। भगवान् श्रीमद्भागवतमें श्रीब्रह्माजीको उपदेश देते हुए कहते हैं – ''सृष्टिके पूर्व केवल मैं ही मैं था। मेरे अतिरिक्त न स्थूल था, न सूक्ष्म और न ही इन दोनों-स्थूल एवं सूक्ष्मका कारण अज्ञान था। आज भी जहाँ सृष्टि नहीं है, वहाँ भी मैं ही मैं हूँ। और इस सृष्टिके रूपमें भी जो आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, अनंत नक्षत्र-मण्डल, काल, कर्म, देव, दानव, मानव, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग एवं जीव-समुदाय और उनका अनन्त माया-व्यापार दृष्टिगोचर हो रहा है, वह सभी मैं ही मैं हूँ।''

भगवान् कहते हैं कि ''मुझ परमात्मामें ही सब कुछ होनेपर भी जो घर-मकान, दुकान, व्यापार, भाई-बन्धु, पत्नी-पुत्र आदि अनेक सत्तायें दीख

रही हैं, और मुझ भगवान् या परमात्मामें ही पूरी तरह स्थित होते हुए भी प्राणी कह बैठते हैं – "कहाँ है परमात्मा, किसने उसे देखा है ?" "यह मेरी प्रतीति नहीं होना, मात्र मेरी माया है।" तो सचमुच हम सभी भगवान्‌की मायासे ही यह सर्वथा सर्वांशमें भूल बैठे हैं कि हमारा भगवान्‌से क्या सम्बन्ध है ?

यह मायाका प्रवाह इतना प्रबल है कि हम सभी पहले तो अपना सम्बन्ध मान बैठे हैं, नाशवान्, क्षणभंगुर, जड़, मलिन शरीरसे, फिर इस जड़, मलिन शरीरके निर्वाहके लिये जुड़ गये हैं – भूमिसे, भवनसे, पत्नी-पुत्रसे, धनसे, मान-प्रतिष्ठासे, और तब इन सभीमें इतने लिप्त हो गये हैं कि स्वप्नमें भी हमें परमात्मासे – जो हमारे निकट-से-निकट है, अपने सम्बन्धकी झलक भी नहीं मिलती।

हममें कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो अपनेको पंडित एवं अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता समझते हैं। वे वस्तुतः ऐसे विद्वान् हैं भी। वे ज्ञानके प्रकाशमें अपना सम्बन्ध भगवान्‌से क्या है, यह जानते हैं। यदि मैं उनसे आप सभी लोगोंके सम्मुख प्रवचन करनेको कहूँ, तो संभव है, मुझसे कितना ही श्रेष्ठ वे इस विषयमें प्रवचन भी कर देंगे, परन्तु इतनी समझ रखते हुए भी उनकी बुद्धि अपने उस ज्ञानको मन एवं व्यवहारमें मान्यता नहीं देती । चाहे हम कुछ भी बोलें, कहें, पढ़ें, अथवा सुनें, हमारी मान्यता शरीर एवं शरीरके भोगोंमें ही फँसी रहती है। अतः जब हम इस परमात्म-ज्ञानको मान्यता ही नहीं देते, तो भले ही वह श्रेष्ठतम सन्तों और शास्त्रों द्वारा हमें प्राप्त हुआ है, हमारी पर्याप्त मान्यताके अभावमें वह ज्ञान हमारे लिये महत्वपूर्ण और लाभदायक नहीं हो पाता। हमारी विषयोंमें महत्व-बुद्धि होनेसे वह नगण्य और नकारात्मक ही हो जाता है।

चाहे कितनी ही बड़ी विद्वत्ता हो, चाहे कितना ही पढ़ा-सुना जावे, ज्ञान तभी सफल होता है, जब वह हमारे द्वारा वरण किया जाता है, माना जाता है और वह हमारे मन एवं इन्द्रियोंके व्यवहारमें उतरता है। जब हम अपने व्यवहारमें आन्तरिक मान्यताके रूपमें अज्ञानको, शरीर, इन्द्रियोंके भोग, और क्षणभंगुर, दुःखालय संसारको ही वरण किये रहते हैं, तो हमारा मात्र वाचिक-ज्ञानी होना सर्वथा निरर्थक ही हो जाता है।

शास्त्रोंमें इस विषयमें एक अतिशय रोचक कथा आती है। राजा उत्तानपाद जानता था कि सुनीति मेरी पत्नी है। वह यह भी भलीप्रकार जानता था कि ध्रुव मेरा होनहार सद्गुणी बड़ा पुत्र है। आगे जाकर वही युवराज एवं राजा होनेका अधिकारी भी है। परन्तु भली प्रकारसे यह जानते हुए भी वह मनसे इसे मान्यता नहीं देता था। वह मान्यता अपनी दूसरी पत्नी सुरुचि एवं उसके पुत्र

उत्तमको ही देता था। इसीलिये उसने सुरुचिकी इच्छाका आदर करते हुए ध्रुवको अपनी गोदमें नहीं बैठाया और उत्तमका सत्कार किया। ठीक, हमारे साथ भी यही घटित हो रहा है। यह जानते हुए भी कि हम परमात्माके और परमात्मा ही मात्र हमारा है, हम शरीर एवं भोगोंको महत्व देकर उन्हें ही अपना रहे हैं और परमात्माका तिरस्कार कर रहे हैं। श्रुति कहती है -

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न बहुना श्रुतेन, यमेवैष आत्मा वृणुते तेन लभ्यः ।।"

अर्थात्, कोई आत्मविषयमें बहुत पढ़ा-लिखा पंडित हो जाए तो उसे यह परमात्मा नहीं मिलता, कोई बहुत ही रोचक शब्दोंमें इस आत्माका व्याख्यान दे सके, उस प्रवचनकर्ताको भी परमात्मा मिल जाते हैं, सो बात भी नहीं। यदि कोई उसे, घण्टों सुनता रहे, उसे भी यह नहीं प्राप्त होता, यह तो उसीको प्राप्त होता है, जो इसे स्वीकार करता है, वरण करता है, और जो इसे वरण करता है, उसे ही यह भी वरण करता है।

तो, हमारे सत्संग करनेकी प्राथमिक उपादेयता यही है कि परब्रह्म परमात्मा, अथवा भगवान्‌से हमारे सम्बन्धको हम भली प्रकारसे जानकर, उन्हें हम वरण कर लें ।

जहाँतक भगवान्‌के स्वभावकी बात है, वे यह अच्छी प्रकारसे जानते हैं कि हम उन्हें सर्वथा अपना नहीं मानते, हम आपाततः धन, पुत्र, परिवार, शरीरमें ही दिन रात उलझे हैं, फिर भी वे हमारे प्रति अपार आत्मीयता रखते हैं एवं श्रीमद्भगवद्गीतामें अपने मुखसे कहते हैं :-

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ।।१५-७।।

अर्थात्, "तीन लोक एवं चौदह भुवनोंमें मेरा ही सनातन अंश आत्मा, जब प्रकृतिमें स्थित मन एवं इन्द्रियोंको अपना मान लेता है, तो वह 'जीव' संज्ञक हो जाता है।"

भगवान् यह रहस्य प्रकट करते हैं कि हम सभी उनके ही अंश हैं, परन्तु प्रकृतिके कार्य – शरीर, प्राण, मन एवं इन्द्रियोंके साथ अपनी एकता वरण कर लेनेसे उनका अंश होते हुए भी हम जीव-संज्ञक हो गये हैं। भगवान्‌के कथनका यही रहस्य है कि हमारा जीवपना सर्वथा ही बनावटी है। वह हमारी मात्र भ्रमपूर्ण मान्यताके कारण ही है, और हमारा परमात्मापना पूर्णतया सत्य है। भगवान्‌की हमारे प्रति आत्मीयता अतिशय महान् हितकारी, अखण्ड, नित्य रहनेवाली एवं स्वतःसिद्ध है।

जैसे सूर्यसे उसकी किरणें, अग्निसे उसका तेज, जलसे सरसता, वायुसे

स्पर्शशक्ति एवं पृथ्वीसे गन्ध पृथक् की नहीं जा सकती, इसी प्रकार परमात्मासे हम पृथक् किये नहीं जा सकते। प्रकृति, मन एवं इन्द्रियोंसे हमारी जातीय एकता नहीं है। हमने अज्ञान, मोह अथवा मायासे यह एकता वरण कर ली है। भगवान् हमारे इस अज्ञानको भली प्रकार जानते हैं। इसीलिए हमारे द्वारा उन्हें सर्वथा भुला दिये जाने पर भी वे हमें नहीं भूलते ।

हम सम्बन्ध बनाते हैं – पत्नी, पुत्र एवं परिवारसे, धन, सम्पत्ति एवं यशसे, परन्तु जिन-जिनको हम अपना मानते हैं, वे मात्र प्रयोजनसे ही हमारे रहते हैं। वे एक क्षणमें ही हमें छोड़कर चल देते हैं, उनके छोड़ देनेपर उनके अभावमें हम विकल होते हैं, परन्तु हमारी विकलताकी उन्हें सर्वथा ही परवाह नहीं रहती।

शास्त्रोंमें वर्णन आता है कि राजा चित्रकेतुका जब इकलौता पुत्र मृत्युको प्राप्त हो गया, तो वे पुत्र-शोकके कारण चेतनाहीन हो गये। उन्हें कोई भी ढाढस, सन्तोष नहीं दिला पा रहा था। वे अपने पुत्रकी लाशके पास शोकग्रस्त मुर्देके समान निपतित थे। ऐसी शोक-विहल दशामें उनके पास श्रीनारदजी एवं श्रीअंगिरा ऋषि आये। इन ऋषियोंने शोकाकुल राजाको उठाया और तदनन्तर उन्हें आश्वस्त करनेके लिये मृत राजकुमारके जीवात्माको राजाके सम्मुख प्रत्यक्ष बुला लिया। देवर्षि नारदजीने उस जीवात्मासे कहा – "भाई ! देखो, तुम्हारे माता-पिता तुम्हारे वियोगसे अत्यंत शोकाकुल हो रहे हैं। तुम मेरा कथन मानकर इस राजकुमारके मृत शरीरमें पुनः आ जाओ और पिताके दिये स्नेहको भोगो।" इसके उत्तरमें जीवात्माने अपने बिलखते माता-पिताको क्या उत्तर दिया, तनिक ध्यान देकर सुनो । जीवात्माने कहा – "देवर्षिजी ! जैसे सुवर्ण आदि क्रय-विक्रयकी वस्तुएँ किसी एककी नहीं होतीं, एक व्यापारीसे दूसरे व्यापारीके पास आती-जाती रहती हैं, वैसे ही जीव भी भिन्न-भिन्न योनियोंमें उत्पन्न होता है, और मृत्युको प्राप्त होनेपर दूसरेके पास चला जाता है। किसीका किसीसे भी स्थायी सम्बन्ध सर्वथा नहीं मानना चाहिये। मैं, जीव तो नित्य अहंकाररहित हूँ। मैं जबतक जिस शरीरमें रहता हूँ, तभीतक उसे अपना मानता हूँ। मेरा न तो कोई अत्यंत प्रिय है, न अप्रिय है। न ही मेरा कोई अपना है, एवं न ही पराया।"

इस जीवात्माकी उक्तिसे राजा चित्रकेतुकी आँखें खुल गयीं। उसे सत्य समझमें आ गया। उसका पत्नी-पुत्र-परिवारसे मोह-बन्धन कट गया। उसका पुत्रके मरनेका सम्पूर्ण शोक जाता रहा।

हमारे सत्संगमें आनेका प्रयोजन यही है कि हमारे हृदयमें भी सच्चे

ज्ञानका प्रकाश हो, हमारे मोहका, अज्ञानका नाश हो, जिस मोहके कारण हमने मिथ्या, क्षणभंगुर, दुःखालय संसारकी वस्तुओंसे अपना सम्बन्ध मान रखा है।

भगवान्‌का श्रीभगवद्गीतामें ***''ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः''*** कहनेका यही प्रयोजन है कि हम इस भावको अतिशय दृढ़तापूर्वक पकड़ लें कि हम पूर्णतया भगवान्‌के हैं और भगवान्-मात्र हमारे हैं। भगवान्‌में हमारे प्रति विशुद्ध सत्वमयी करुणा है। भगवान् हमारे अल्पजीव हो जाने एवं दुःखालय, क्षणभंगुर शरीरसे एकात्म हो जानेके कारण होनेवाले भय, शोक, चिन्ता, सन्देह, अभाव, रोग, पीड़ा, मृत्यु आदि दोष मूलसे मिटाना चाहते हैं। यह सत्य है कि ज्योंही हमारी मन-बुद्धि भगवान्‌से अपने सम्बन्धको दृढ़तापूर्वक पकड़ लेगी, हमारा मन भगवान्‌के अभय, विभु, आनन्दप्रद आश्रयको ज्योंही दृढ़तापूर्वक ग्रहण कर लेगा, हमारे भीतरसे मरनेका भय, जीनेका मोह, करनेका राग, पानेका लालच सर्वथा, सर्वांशमें समाप्त हो जायेगा।

सर्वथा एवं सर्वदा निर्भयताकी प्राप्ति

'हम भगवान्‌के अंश हैं', हमारी मन-बुद्धिके द्वारा यह ठीक प्रकारसे दृढ़तापूर्वक पकड़ते ही जो सबसे बड़ा अनमोल धन हमें मिलता है, वह यह है कि हम सर्वथा, सर्वांशमें ही पूर्णतया निर्भय हो जाते हैं।

सबसे बड़ा भय तो हमें मृत्युका होता है। महर्षि पतञ्जलिने मृत्युको सबसे बड़ा क्लेश माना है, यह भय बड़े-बड़े विद्वानों, शास्त्रके पंडितोंको भी होता है।

दूसरा भय हमें पाप-कर्मोंका होता है। हमें अनुभव होता है, हमारी वृत्तियाँ तो अभीतक शुद्ध हुई नहीं, हमारे भीतरके शत्रु काम-क्रोध-लोभ-मोह ज्यों-के-त्यों-पूरे हैं, हमसे भजन होता नहीं, हम कहाँ जावेंगे ? जो भी प्राणी थोड़े भी धर्म-भीरु हैं, शास्त्रादिका सत्संग कर लेते हैं – उन्हें यह भय सदा घेरे रहता है।

ये दोनों ही हमारे भय सर्वथा व्यर्थ हैं। ये भय तभीतक हैं, जबतक हम भगवान्‌पर विश्वास नहीं करते । ज्योंही हमें यह ज्ञान और विश्वास हो जायेगा कि हम भगवान्‌के हैं, वैसे ही हमें यह भी ठीक अनुभव हो जायेगा कि हम तो भगवान्‌से एकमेक हो गये हैं, शरीरसे हमारा कोई सम्बन्ध ही नहीं रहा है, और जैसे सर्पकी केंचुलीका त्याग कर देनेसे सर्पकी कुछ भी क्षति नहीं होती, उसी प्रकार शरीरकी क्षति एवं नाशसे हमारा बाल भी बाँका नहीं हुआ है। जब भगवान अमृतस्वरूप हैं, मृत्यु उन्हें स्पर्श भी नहीं कर सकती, तो उनके शरणागत हुए हमारा मौत भला क्या बिगाड़ सकती है ?

हमारा यह दूसरा भय भी व्यर्थ ही है। यदि हम सच्चे मनसे अपनेको भगवान्‌का और भगवान्‌को अपना मान लेते हैं, इसके पश्चात् भी यदि अपनेमें अयोग्यताएँ, निर्बलतायें अनुभव होती हैं; तो हमें इसकी चिन्ता कदापि नहीं करनी चाहिये, क्योंकि जब हम भगवान्‌के हैं और भगवान्‌ने यह सर्वथा नहीं कहा है कि तुम विशुद्ध होनेपर ही मेरे हो, तो फिर इन निर्बलताओंकी ओर हमारी दृष्टि ही क्यों जावे ? जब भगवान्‌ने हमारी सभी निर्बलताओंको जानते हुए ही हमें अपना कहा है एवं साथ ही यह भी कहा है कि मेरा अंश, प्रकृतिमें स्थित मन एवं इन्द्रियोंको अपना माने हुए है, फिर हमें चिन्ता क्यों हो ? भले ही हमारी अवस्था बुरी-से-बुरी है, परन्तु हम भगवान्‌के अंश तो हैं ही। भगवान्‌ने जब कोई शर्त लगायी ही नहीं और बेशर्त हमें अपना अंश कहा है, फिर हमें इन शरीरगत तुच्छ कमजोरियोंपर ध्यान ही क्यों देना चाहिये ? भगवान् जब पूर्णतः निष्पाप हैं, तो हम उनके अंश भी निश्चय ही निष्पाप हैं और कहीं कोई मलिनता हममें है, तो भगवान्‌की कृपा निश्चय ही हमें निष्पाप कर देगी, यह भाव हमारा सदैव पूर्ण प्रबल रहना चाहिये।

हम जब भगवान्‌के अंश है, तो हमारा सुधार भगवान्‌का कार्य है। हमारा तो बस एक ही काम है कि निर्भय, निश्शंक, शोकरहित हुए भगवान्‌को अपने-से-अपना मान लें; हमारी भगवान्‌से जो अतिशय निकटता है, उसे एक पलके लिए भी नहीं भुलावें। हममें जो भी न्यूनताएँ हैं, वे सभी संसार और शरीरको अपना माननेकी भूलसे ही हमारे भीतर प्रविष्ट हो पायी हैं, अतः इस शरीर और संसारसे, संसारगत वासनाओंसे असंपृक्त रहनेकी ही सतत चेष्टामें जुटे रहें ।

इस सम्बन्धमें एक बहुत ही प्यारी कथा पद्मपुराणमें आती है। विभीषण जब रावणरूपी संसार और शरीरसे अपना सब सम्बन्ध तोड़कर, सबको त्याग एवं सर्वथा विस्मृतकर भगवान् रामसे अपना सम्बन्ध जोड़ चुके, उनके ही पूर्ण शरणागत हो गये तो, विभीषणके दोष फिर विभीषणके रहे ही नहीं, वे तो सभी रामजीके ही हो गये। अब एक दिवस विप्रघोष नामक ग्राममें विभीषणजीसे एक ब्रह्महत्या बन गयी। उस ग्रामके ब्राह्मणोंने इकट्ठे होकर विभीषणजीको पकड़ लिया, और खूब मारा-पीटा। परन्तु विभीषणजीकी मृत्यु ही नहीं हुई। जब बहुत चेष्टा करनेपर भी विभीषणजी मरे नहीं तो निराश होकर उन ब्राह्मणोंने उन्हें जंजीरोंसे बाँधकर धरतीके भीतर एक गुफामें कैद कर दिया।

यह घटना उन दिनोंकी है, जब रावणकी मृत्यु हो गयी थी, एवं विभीषणजी लंकाके राजा हो गये थे। भगवान् श्रीरामजीको अपने भक्त विभीषणके

कैद होनेके समाचार ज्योंही मिले, वे तुरन्त ही पुष्पक विमानमें चढ़कर विप्रघोष नामक ग्राममें पहुँचे। ब्राह्मणोंने रामजीका बहुत ही आदर-सत्कार किया। जब श्रीरामजीने वहाँके ब्राह्मणोंसे विभीषणजीके बारेमें पूछा, तो ब्राह्मणोंने विभीषणजीको राजा रामजीके सम्मुख बन्दीवेशमें समुपस्थित कर दिया। ब्राह्मणोंने कहा – "महाराज ! यह ब्रह्म-हत्यारा है, हमने इसको बहुत मारा-पीटा, परन्तु यह मरता ही नहीं है।" भगवान् रामजीने विप्रघोषवासियोंसे कहा – "ब्राह्मणों ! इस विभीषणको मैंने एक कल्पकी आयु और लंकाका राज्य दे रखा है, यह कभी मर नहीं सकता। यह तो मेरा भक्त है, इसके लिये तो मैं स्वयं मृत्युदण्ड स्वीकार करनेको तत्पर हूँ। वास्तवमें अंश (सेवक) के अपराधका उत्तरदायित्व अंशी (स्वामी) पर ही आता है, अतः विभीषणके बदलेमें आपलोग मुझको ही दण्ड दें।"

वरं ममैव मरणं मद्भक्तो हन्यते कथम् ।
राज्यमायुर्मया दत्तं तथैव स भविष्यति ।।
भृत्यापराधे सर्वत्र स्वामिनो दण्ड ईष्यते ।
रामवाक्यं द्विजाः श्रुत्वा विस्मयादिदमब्रुवन् ।।

भगवान्‌की यह वत्सलता देखकर ब्राह्मण आश्चर्य करने लगे। उन सभीने विभीषणको मुक्त कर दिया।

कहनेका तात्पर्य इतना ही है कि – 'हम भगवान्‌के हैं और भगवान् हमारे हैं' – इस अपनेपनके सम्मुख योग्यता, पात्रता, अधिकार आदि कुछ भी महत्त्व नहीं रखते । यह सम्पूर्ण साधनोंका फल है।

छोटा-सा बच्चा अपनेपनके बलपर आधीरातमें रोनेपर सारे घरको नचाता है। सारे घरवाले उठकर उसके हठको पूरा करते हैं। इसलिए, जब हम भगवान्‌के अंश हैं, तो हमें अपनी योग्यताकी ओर कदापि नहीं देखकर मात्र भगवान्‌के साथ अपनेपनको ही देखते रहना चाहिये ।

भगवान् कहते हैं, जब तू ***'ममैव' - 'मेरा ही है'*** – तो फिर चिन्ता करके अथवा अपने साधनद्वारा शुद्ध होनेका मिथ्या प्रयास करके, तू अपराध ही करता है। यह तेरा अभिमान है कि तू जैसा है, जो है – वैसा ही मेरे पास दौड़ता हुआ न आकर, शुद्ध पवित्र होकर मेरे पास आना चाहता है। यह तेरा अभिमान मेरे प्रति अविश्वासमूलक है। जब मैं कहता हूँ कि तू **'ममैव', मात्र मेरा ही है**, फिर मेरे प्रति पूरा विश्वास, भरोसा नहीं रखना – तेरा निश्चय ही मेरे प्रति अपराध है। तुझमें अपने दोषोंको लेकर चिन्ता करना वास्तवमें अपने बलके अभिमानके ही कारण है। यह नियम है कि दोषोंको मिटानेमें अपनी सामर्थ्य मालूम होनेसे ही उनको मिटानेकी चिन्ता होती है। यदि हममें दोष मिटानेकी

सामर्थ्यका अभिमान सर्वथा नहीं हो, तो हम भगवान्‌को पुकारेंगे, और अधिक बलपूर्वक भगवान्‌को अपने सम्बन्धकी स्मृति करके उनसे ही चिपकेंगे। जैसे, छोटे बालकके पास कुत्ता आ जाय – वह अपनेमें जब कुत्तेको भगानेकी सामर्थ्य नहीं देखता, तो रोकर माँको ही पुकारता है।

मेरा अंश होकर तू चिन्ता करता है, तो कलङ्क आता है, मुझपर । तू इनकी चिन्ता मत कर। इनकी चिन्ता मैं करूँगा । जब तू मेरा है, तो अपना सब भार, शोक, चिन्ता मुझपर छोड़कर निर्भर, निश्चिंत, निश्शोक हो जा।

हमारी तो भगवान्‌से सदा यही प्रार्थना होनी चाहिये :–

दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो
नरके वा नरकान्तक प्रकामम् ।
अवधीरित शारदारविन्दौ
चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि ।।

हे नरकासुरका अन्त करनेवाले प्रभो ! आप मुझे चाहे स्वर्गमें रखें, चाहे भूमण्डलमें अथवा नरकमें, आपका जो भी मेरे प्रति मंगलमय विधान हो, वही हो। मेरी तो एक ही माँग है कि मृत्यु जैसी भयंकर अवस्थामें भी मैं शरद्-ऋतुमें खिले कमलोंकी शोभाको तिरस्कृत करनेवाले आपके चरणोंका चिन्तन करता रहूँ । (उन्हें अपना सर्वस्व समझ, उनसे ही चिपका रहूँ।)

मेरे बन्धुओं ! मेरी माताओं !! हमारे भीतर दोष तभीतक हैं जबतक हम भगवान्‌से कटे हैं। यह अकाट्य बात है कि दोष भगवान्‌की विमुखतासे ही टिक सकते हैं। जबतक शरीर और संसारके आश्रयके क्षीण-से संस्कार हैं, तभीतक दोषोंका अस्तित्व है। भगवान्‌से हमारे सम्बन्धकी अखण्ड-स्मृतिरूप सूर्यके उदय होते ही शरीर और संसारके आश्रयके संस्कार समूल नष्ट हो जायेंगे और उनके मिटते ही सब दोष स्वतः लुप्त हो जावेंगे।

मनुष्यके मनमें यह भय भी रहता है कि कहीं मृत्युके घोर कष्टमें मेरी वृत्तियाँ भगवान्‌से हट नहीं जावें। ऐसा भयका भाव भी हमें सर्वथा निकाल देना चाहिये। क्योंकि जब हम भगवान्‌के ही पूरे हैं, तो जैसे हम जीवनकालमें भगवान्‌के अपने-के-अपने हैं, वैसे ही मृत्युकालमें भी उनके अपने-के-अपने ही रहेंगे । भगवान्‌ने यह तो कहीं नहीं कहा है कि तुम मुझमें वृत्ति लगाओगे, तभी मेरे होओगे; भगवान् तो सर्वथा बेशर्त, बिना कोई भी करारके यह बात कहते हैं कि तू मेरा ही सनातन अंश है। सनातनका अर्थ ही है कि जब तुम माँके गर्भमें सर्वथा अबोध अर्द्धसुप्त थे, तब भी मेरे ही अंश थे, मृत्युके समय, मूर्च्छा, प्रमाद में सर्वथा मुझे भूले रहनेपर भी तुम मेरे ही अंश रहोगे। अतः कोई

भी शंकाका भाव हमें अपने पास नहीं फटकने देना चाहिये और 'मैं भगवान् की कृपामें तरान्तर हूँ, उनका ही अंश, भाग, हिस्सा, अवयव हूँ, अब मेरेको किसी बातका भय नहीं, शंका नहीं, सन्देह नहीं, चिन्ता नहीं, यही सोचते रहना चाहिये। अबतक वृत्तियोंको अपनी माननेसे ही, हम इन्हें शुद्ध नहीं कर सके। वृत्तियाँ हमारी स्वरूपतः हैं ही नहीं, ये वृत्तियाँ तो त्रिगुणमयी प्रकृतिकी हैं, और हम भगवान्‌के हैं। भगवान् कहते हैं, जीवनें प्रमादवश 'प्रकृतिस्थानि, वृत्तियोंको अपनी मान ली हैं। अतः जब वृत्तियाँ हमारी हैं ही नहीं, तो गुणोंमें गुणोंको बरतने दो। निद्रा एवं मूर्च्छाके समय वृत्तियाँ सर्वथा अवरुद्ध हो जाती हैं, रजोगुणी प्रकृतिमें नाच रही हैं। हम तो भगवान् की कृपा-ही-कृपासे ओतप्रोत हैं, हमारे चारों ओर सर्वत्र भगवान् परिपूर्ण लबालब भरे हैं। हम तो भगवान्‌के अपनत्व, आत्मीयतामें तरान्तर हैं। भगवान् यही चाहते हैं, हम उनके अंश – उनके ही पूरे रहें, हम प्रकृतिस्थ मन एवं इन्द्रियोंसे सर्वथा असंग हो जावें ।

(एक व्यक्ति श्रोताओंमें से उठकर प्रश्न करता है)

प्रश्नकर्त्ता - "स्वामीजी ! मुझे तो मैं जब रात्रिमें एकान्तमें भगवान्‌का ध्यान करता हूँ, तो भगवान्‌के प्रकट होनेका भी भय अनुभव होता है। मुझे यह भी भय होता है कि कहीं भगवान् प्रकट हो गये और उनके रूप एवं गुणोंमें मैं आसक्त हो गया, तो मैं उनके पीछे दीवाना बना पागलोंकी तरह गली-गली भटकता रहूँगा। फिर मेरे बाल-बच्चे टके-टकेके मोहताज हो जावेंगे, मेरी पत्नी, मेरा एवं बच्चोंका पेट भरने दाई-महरीका काम करेगी। इस भयसे भयग्रस्त, मैं भजन-ध्यान, माला, सत्संग सबका त्याग कर देता हूँ।" (प्रश्न सुनकर सब हँसते हैं)

(स्वामीजीका उत्तर)

स्वामीजी - "भैया ! यह सब तुम्हारा भगवान्‌के प्रति मात्र अविश्वास एवं परायापन है। भगवान् हमारे आत्मीय-से-आत्मीय हैं। माता हमें अपार प्यार करती है, परन्तु उसके प्यारमें क्या कभी हम पागल हुए गली-गली फिरते हैं ? माता क्या हमें ऐसा करने देगी ? इसी प्रकार, भगवान् तो हमारे परम आत्मीय हैं। जितना वात्सल्य अपने-अपने शिशुओंके प्रति संसारकी सभी माताओंमें है, वह सब एकत्रित होकर भी भगवान्‌के वात्सल्यकी छायाका मात्र एक कण-भर भी नहीं हो पाता। अब विचार करो, भगवान्‌में कितनी आत्मीयता, वात्सल्य एवं हमारे प्रति प्यार है। सचमुच ही, जो महाभाग्यवान् भगवत्प्रेमी भगवान्‌के प्रेममें अपने घर-संसारकी सुध-बुध खोकर पगले हो जाते हैं, उनके चरणोंकी धूलि इतनी पवित्र होती है कि बड़े-बड़े इन्द्रादि देवता उस धूलिको

पानेके लिये उनके पीछे-पीछे फिरते हैं। उनका परिवार जगद्वन्द्य हो जाता है। रामकृष्णदेव, अथवा चैतन्यदेवकी पत्नियोंको कभी भी दाई-महरीका काम नहीं करना पड़ा। वे सदा ही सबके लिये परमादरणीय रहीं। विश्वास करना चाहिये कि भगवद्भक्तका सम्पूर्ण योग-क्षेम भगवान् स्वयं निर्वाह करते हैं। स्थूल दृष्टिसे देखनेपर भी यही समझमें आता है कि बच्चा जब अपनी माँसे दूर होता है, तभी भयभीत होता है, जैसे ही बच्चा अपनी माँकी गोदमें जाता है, उसका सारा भय चला जाता है। उसे विश्वास है, माँ उसकी अपनी-से-अपनी है। भगवान्‌की सामर्थ्य, उनकी आत्मीयताकी तुलना संसारकी माताओंसे की ही नहीं जा सकती। अतः भगवान्‌के भक्तको तो साक्षात् यमराजसे भी भयभीत नहीं होना चाहिये, क्योंकि जिसे भगवान्‌की आत्मीयतापर विश्वास है, वह सदा मृत्युके मस्तकपर पैर रखकर चलता है और साक्षात् मृत्यु, उसका बाल भी बाँका नहीं कर सकती।

निश्शंक होना

हमें भगवान्‌की आत्मीयताके प्रति भूलकर भी कभी यह सन्देह नहीं करना चाहिये कि मैं भगवान्‌का हुआ या नहीं, भगवान्‌ने मुझे स्वीकार किया या नहीं । यह सन्देह अनेक भक्तोंको ऊँची साधना करनेपर भी बना ही रहता है। हमें तो सदा यही देखना चाहिये कि मैं तो अनादि कालसे भगवान्‌का ही था। मैं पूरा-का-पूरा आज भी भगवान्‌का हूँ और आगे भी सदा भगवान्‌का ही रहूँगा। मैंने अपनी मात्र मूर्खतासे अपनेको भगवान्‌से विमुख, पृथक् मान लिया था। परन्तु मैं उनको कितना ही अपनेसे अलग मानता चला जाऊँ, वे मुझे अपनेसे अलग कर ही नहीं सकते। सूर्यकी किरणें सूर्यसे जुड़ी हुईं ही पृथ्वीपर पहाड़ों-जंगलों, घनी अँधेरी घाटियोंको प्रकाशित करने आती हैं, वे अपनेको यदि सूर्यसे कटी, पृथक् समझ भी लें, तो भी उनका सूर्यसे जुड़ा रहना उनकी मान्यताकी अपेक्षासे नहीं, वरं एक अकाट्य सत्य तथ्य है। इसी प्रकार हमारा 'भगवान्‌का होना' अकाट्य, अखण्ड तथ्य है। वह हमारी मान्यताकी अपेक्षासे कदापि नहीं है। वह भगवान्‌की एक पूर्ण सत्य, तथ्यात्मक उक्ति है कि जीव ***"ममैव अंशः"*** — भगवान्‌का ही अंश है। अतः इसमें सत्यांशमें कहीं कोई भी सन्देह एवं शंकाकी गुंजाइश है ही नहीं। जब हम भगवान्‌के हैं, यह हमारी सुदृढ़ आस्था हो ही गयी, तो हमें किसी भी प्रकारके परीक्षात्मक भाव रखकर सन्देहोंको प्रश्रय कभी नहीं देना चाहिये। साधक जब अपनेमें उत्तम लक्षण नहीं देखता है, तो प्रायः उसमें सन्देहवृत्ति झाँकने लगती है। इससे यही व्यक्त होता है कि हमारी योग्यतामूलक गुणोंमें तो आस्था है, किन्तु भगवान्‌के तथ्यात्मक

वचनों पर हमारा विश्वास हिलता है। हमें तो भक्त होनेके नाते भगवान्के वचनोंपर ही पूर्ण आस्था रखनी चाहिये। भगवान्की उक्ति ही पूर्ण प्रामाणिक है, यही हमारे अमोघ विश्वासका आधार होनी चाहिये। भगवान्की उक्तिपर सन्देहकर उसे अन्य कसौटियोंसे जाँचनेकी भावना भक्तको कदापि नहीं रखनी चाहिये ।

वैसे स्वयं भगवान्ने ही श्रीमद्भगवद्गीताके बारहवें अध्यायमें अपने भक्तमें होनेवाले निम्न सद्गुण बतलाये हैं :–

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ।।१३।।
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।।१४।।
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ।।१५।।
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।।१६।।
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचतिन कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ।।१७।।
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ।।१८।।
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येनकेनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ।।१९।।

भगवान् कहते हैं कि मेरे भक्तको सभी प्राणियोंमें द्वेषभावरहित, सबका मित्र (प्रेमी, हित करनेवाला) करुण (दयालु) ममतारहित, अभिमानरहित, सुख-दुःखकी प्राप्तिमें सम, क्षमाशील, निरन्तर संतुष्ट, योगी (मेरी स्मृतिके तारसे निरन्तर जुड़ा हुआ), शरीरको निजवशमें रखनेवाला, दृढनिश्चयी, मन-बुद्धिको मुझमें लगाये रखनेवाला होना चाहिये।।१३–१४।।

उससे किसी प्राणीको उद्वेग नहीं होना चाहिये, और उसको भी किसी प्राणीसे उद्वेग नहीं हो. वह हर्ष, अमर्ष (ईर्ष्या), भय एवं उद्वेगसे रहित होना चाहिये।।१५।।

वह आकांक्षासे रहित, बाहर-भीतरसे पवित्र, मेरी स्मृतिमें सदैव जागरूक, सावधान, संसारके भोगोंके प्रति उदासीन, व्यथासे रहित, नवीन कर्मोंके प्रारंभका त्यागी होना चाहिये।।१६।।

उसे ससारके अनुकूल होनेपर हर्षित एवं प्रतिकूल होनेपर विषादित

कदापि नहीं होना चाहिये। उसे अनुकूलताकी आकांक्षा एवं प्रतिकूलतापर शोक नहीं करना चाहिये। शुभ एवं अशुभ कर्मोंमें भी उसे राग-द्वेष नहीं रखना चाहिये।।१७।।

उसे शत्रु एवं मित्रमें, मान एवं अपमानमें समत्व रखना चाहिये, सुख-दुःखमें आसक्तिरहित, शरीरके जिस-किसी भी प्रकारसे निर्वाह होनेमें सन्तुष्ट, शरीरमें ममता आसक्तिसे रहित, उदासीन, स्थिर-बुद्धिवाला होना चाहिये।।१८।।

भगवान् कहते हैं, ऐसा भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है। भक्त-साधक यदि अपनेमें इन उपरोक्त लक्षणोंको न भी पायें, तो भी उसे चिन्तित एवं निराश कदापि नहीं होना चाहिये। उसका लक्ष्य उस अवस्थामें ये गुण न होकर, अपनी मन-बुद्धिमें भगवान्‌का अपनापन बढ़ाना ही होना चाहिये; क्योंकि जैसे ही जीव पूर्णतया भगवान्‌का होता है उपरोक्त गुण उसमें बिना किसी प्रयासके अपने-आप आ जाते हैं। साधकमें कहीं-न-कहीं भगवान्‌को अपना न माननेकी ही त्रुटि है, जिससे इन लक्षणोंका उसमें न होना दिख रहा है। भगवान्‌का होते ही, ये गुण स्वभावतः ही उसमें उसी प्रकार पूरे भरे मिलेंगे, जैसे सूर्योदयके होते ही प्रकाश सर्वत्र भर जाता है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्

भगवान्‌को अपना माननेवाला भक्त स्वभावतः ही अन्य सभी प्राणियोंसे द्वेष-भावसे रहित होता है। उसके हृदयमें से कुछ अनिष्ट होता है अथवा कोई अनिष्ट करता है, – ये दोनों धारणाएँ ही समूल नष्ट हो जाती हैं। भगवान्‌को अपना माननेवाला साधक – व्यक्ति, वस्तु एवं परिस्थिति तीनोंकी ही अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता – दोनों ही परिस्थितियोंमें अपने भगवान्‌के परम मंगलमय भागवती-विधानको ही चरितार्थ होता देखता है। उसके अनिष्टमें हेतु होनेवाले किसी भी व्यक्तिके प्रति, उस साधक-भक्तके मनमें द्वेष-भाव कदापि उदय नहीं होता। वह अपनेसे द्वेष करनेवालेमें भी अपने इष्टको ही भरा देखता है और सभीके उर-प्रेरक उसके इष्ट भगवान् ही हैं, ऐसा मानता हुआ उस अनिष्ट करनेवालेको भी वह अपने भगवान्‌की लीलाका एक यंत्र ही देखता है।

भक्तके लिये चाहे कितनी ही घोर-से-घोर प्रतिकूल परिस्थितियाँ आवे, वे सभी उसके लिये उसके भगवान्‌का परम मंगलमय वरदान ही होती हैं। भक्तके लिये प्राणीमात्र चाहे वह उसके प्रति घोर शत्रुता ही क्यों न रखनेवाला हो, भगवान्‌का यंत्ररूप ही होता है। वह अपने शत्रुमें भी अपने इष्टको ही भरा क्रियाशील देखता है। अतः वह किसीके भी प्रति द्वेष-भाव नहीं रखकर, सभीको प्रणाम करता है। उदाहरणस्वरूप, मान लें, किसी भी व्यक्तिने भक्तके धन-मान

एवं यशमें बाधा पहुँचायी, तो उस समय अपनेको भगवान्‌का माननेवाले भक्तको यही अनुभव होगा कि इस व्यक्तिके रूपमें उसके इष्ट, साक्षात् भगवान्‌ने ही यह उसका परम मंगलमय विधान किया है। वह यही सोचता है कि यदि मुझे धन, मान-सम्मान, आदर-सत्कार मिलता रहता, तो 'भगवान् मेरे हैं', इस भावसे मेरा स्खलन होनेकी बहुत संभावना थी। अतः वह, उस शत्रुता करने वाले साथ ही उसके धन, मान-बड़ाई एवं आदर-सत्कारका नाश करनेवाले उस व्यक्तिपर द्वेष न करके उससे मैत्रीभाव ही रखता है।

जो, ***'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं',*** ऐसा भाव रखता है— उसकी प्राणीमात्रमें प्रभुको देखनेकी वृत्ति अति प्रगाढ़ हो जाती है, वह ***'निज प्रभुमय देखहिं जगत्, केहि सन करहिं विरोध' (मानस ७।११२ ख)*** की भावनासे पूरा भर ही जाता है। ऐसा उसका स्वभाव ही हो जाता है।

अपनेको भगवान्‌का माननेवाला साधक अपना अनिष्ट करनेवाले व्यक्तिकी सब क्रियाओंको भगवान्‌का कृपा-पूर्ण मंगलमय विधान ही मानता है, क्योंकि जब वह भगवान्‌का है, और भगवान् उसके हैं, तो भगवान् उसका अनिष्ट तो होने दे ही नहीं सकते, सदैव सबके द्वारा उसका इष्ट होना ही संभव है, यही उसका सुदृढ भाव रहता है।

वह साधक प्राणीमात्रको भगवान्‌का अंश परिस्थितिमात्रको भगवान् का परम मंगलमय वरदान एवं वस्तुके भाव-अभाव दोनोंको भगवत्प्रसाद ही समझता हैं।

उस साधककी यह स्थिर दृष्टि रहती है कि जैसे मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं, उसी प्रकार सभी प्राणियोंके भी भगवान् अपने हैं, और सभी प्राणी भगवान्‌के ही हैं। फिर वह किसी भी प्राणीके प्रति थोड़ा-सा भी यदि द्वेषी होता है, तो वह उसका भगवान्‌के प्रति ही द्वेष होगा, इसे साधक सह ही नहीं सकता। जैसे छोटे बालकको पीड़ा देनेवाला व्यक्ति माताको ही पीड़ा देता है इसी प्रकार भगवान्‌के जनके प्रति द्वेष करने वाला भगवान्‌के प्रति द्वेष ही तो करेगा। इसे साधक भला कैसे सह सकता है ? कहनेका यही अर्थ है कि भगवान्‌को अपना माननेपर 'सर्वभूतानां अद्वेष्टा' भाव स्वभावतः ही साधकमें आजाता है।

मैत्रः करुण एव च

"मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं" ऐसी भावना रखनेवाले साधकके अन्तःकरणमें प्राणीमात्रके प्रति भगवद्भाव होनेसे उसकी सबसे मैत्री ही होती है, भगवान् जब सबके ***'सुहृदः सर्वभूतानाम्'*** हैं, तो भगवान्‌का स्वभाव भगवान्‌के निज जनमें आयेगा ही। अतः वह स्वाभाविक ही सब जीवोंका हेतुरहित उपकारी ही होता है।

'हेतुरहित जग जुग उपकारी, तुम तुम्हार सेवक असुरारी' भगवान्‌के जनमें यह भाव रहता है कि उसका अनिष्ट करनेवाला उसके पिछले पापोंका फल भुगताकर उसे शुद्ध कर रहा है। अतः वह उसके प्रति दयार्द्र हो उठता है।

'भगवान् मेरे हैं' – ऐसा समझनेवाला जब किसी भी दुखी प्राणीको देखता है, तो उसके मनमें यह भाव अति तीव्ररूपसे आता है कि यह मात्र इसीलिए दुखी है, क्योंकि यह भगवान्‌को अपना नहीं समझता। प्रारब्धवश पुराने जन्मोंके पाप-भोग इसे पीड़ा-कष्ट तो दे सकते हैं, परन्तु इसे दुखी कदापि नहीं कर सकते, यदि यह अपनेको भगवान्‌का और भगवान्‌को अपना मान ले। बस, इस भावके आते ही भगवान्‌का जन उस व्यक्तिके प्रति करुणासे भर जाता है और उससे मैत्री करके उसे भगवान्‌का बनानेकी चेष्टामें रत हो उठता है। इस तरह, वह सम्पूर्ण जीवोंका मित्र और करुणाशील हो उठता है।

निर्ममः निरहंकारः

यद्यपि भगवान्‌को अपना समझनेवाले साधकके मनमें प्राणीमात्रके प्रति स्वाभाविक ही मैत्री और करुणाका भाव रहता ही है, परन्तु उसकी किसी भी प्राणी-पदार्थके प्रति किञ्चिन्मात्र भी ममता नहीं होती। उसकी ममताके केन्द्रबिन्दु एकमात्र भगवान् ही होते हैं। वह सभी प्राणी-पदार्थको भगवान्‌की वस्तु समझता है और एकमात्र अपनी वस्तु भगवान्‌को ही मानता है। भगवान् मेरे हैं और सारा संसार भगवान्‌का है, यह उसकी सुदृढ़ धारणा होती है। अतः भगवान्‌की वस्तु भगवान्‌को सौंप देनेपर उसे प्रतिपल सुखका ही अनुभव होता है। उसकी अन्य प्राणी-पदार्थसे तो ममता हटी ही रहती है। वह तो अपने शरीर, इन्द्रियों एवं मनको भी अपना नहीं समझता, क्योंकि उसकी मूल पकड़ यही होती है कि प्रकृतिस्थ मन, इन्द्रियों एवं शरीरमें फँसनेके कारण ही वह अबतक अपनेको भगवान्‌का अंश नहीं समझ पा रहा था।

ऐसे भगवज्जनकी अपने शरीरादिके प्रति किंचिन्मात्र भी अहंबुद्धि नहीं होनेके कारण उसका सद्गुणोंसे भी राग नहीं होता। यद्यपि निरहंकारी होनेसे उसमें स्वतः श्रेष्ठ, दिव्य, अलौकिक गुण प्रकट होने लगते हैं, परन्तु, वह सभी दैवी-संपत्तिको भगवान्‌की मानकर उन्हें ही अर्पित किये रहता है; इसीलिये उसमें अहंभाव टिक ही नहीं पाता।

समदुःखःसुखः क्षमी

भगवान्‌को अपना माननेवाला भक्त सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम रहता है। अनुकूलता और प्रतिकूलता की अनुभूति उसके हृदयमें होती ही नहीं, क्योंकि उसे सम्पूर्ण विधान ही उसके परम प्रियतम भगवान्‌से आया अनुभव होता है।

प्रारब्धानुसार शरीरमें कष्टदायी रोग होनेपर उसे शारीरिक पीड़ाका ज्ञान तो होगा, परन्तु उससे वह दुखी, शोकयुक्त एवं विकृत कदापि नहीं अनुभव करेगा। अपनेको भगवान्‌का माननेवाला भक्त सदा यही प्रार्थना करता है कि उसके प्रति अहित करनेवाले, बुरा सोचनेवालेको भगवान् कदापि दण्ड नहीं दें। क्योंकि उसे उसका बुरा करनेवाला भी भगवान्‌का अंश दिखता है। भगवान्‌का अंश भगवद्विधानसे यदि उसका बुरा करनेमें निमित्त हो गया है, तो वह अवश्य क्षम्य है। ऐसे सोचते हुए भक्त कभी किसीको भी दण्डित किये जानेका भाव नहीं रखते।

संतुष्टः सततम्

भक्तको जब सुदृढ विश्वास हो जाता है कि मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं, तो वह नित्य-निरन्तर संतुष्ट रहता है । उसे जब भगवान्‌का अंश होनेसे भगवान् नित्य मिले ही हुए हैं, तो अब उसके असन्तोषका तो कोई कारण बचता ही नहीं है। नाशवान् संसारकी उसे कोई आवश्यकता होती ही नहीं। 'भगवान् मेरे हैं'— इस महान् आनन्दरूप अनुभवमें पूर्णरूपेण मस्त हुआ वह व्यक्ति सारे संसारको तुच्छ, हेय एवं पूर्ण उपेक्षाका हेतु समझता है। उसके सन्तोषमें किसी भी हेतुसे तनिक-सी भी न्यूनता नहीं होती।

योगी, यतात्मा, दृढनिश्चयः

वास्तवमें तो हमारी मन-बुद्धि एवं इन्द्रियाँ स्वाभाविक रूपसे भगवान्‌में ही स्थिर, शान्त हो पाती हैं। संसारसे जब मनुष्यका रागयुक्त सम्बन्ध होता है, तो इन मन, बुद्धि एवं इन्द्रियोंको हम ही संसारमें अपने रागसे लगाते हैं। संसारमें उन्हें पर्याप्त सुख मिलता नहीं। ओस चाटनेसे किसी प्यासेकी पूर्ण संतुष्टि जब नहीं ही हो पाती, तो वह प्यासा जलकी खोजमें यत्र-तत्र-सर्वत्र भटकता है। यही दशा मन-इन्द्रियोंकी भी होती है। सांसारिक विषयोंमें जब उन्हें पूर्ण संतुष्टि होती ही नहीं, तो वे कृतकृत्यता और संतोषकी खोजमें भटकती हैं। भगवान्‌को अपना माननेवालेमें संसारके प्रति रागयुक्त सम्बन्ध तो किंचिन्मात्र भी होता नहीं, अतः उसकी मन-बुद्धि एवं इन्द्रियाँ भी भगवान्‌में ही नियुक्त होती हैं, इनको वहाँ अखण्ड आनन्द एवं सुख मिलता है, अतः उनके फिर इधर-उधर हटनेकी संभावना ही नहीं होती। वे सर्वथा भक्तके वशमें ही रहती हैं।

वास्तवमें किसी भी प्राणीका भगवान्‌से किसी भी कालमें वियोग होता ही नहीं और जिसका ऐसा सुदृढ़ निश्चय है कि मैं भगवान्‌का अंश हूँ, उसके भगवान्‌से वियुक्त होनेका तो प्रश्न ही नहीं उठता। अतः ऐसे साधकको तो पूर्ण योगी ही मानना चाहिये।

जिसे भगवान्की उक्तिपर ही सन्देह हो, उसकी तो यहाँ बात हो ही नहीं सकती। जिसे भगवान्की उक्तिपर एवं गीताशास्त्रकी वाणीपर विश्वास है, उसकी बुद्धिमें – सम्पूर्ण विश्व परमात्माका अंश है, ऐसा अटल निश्चय होता है। जो भगवान् कह रहे हैं, वही पूर्णरूपेण सत्य है, ऐसी उसकी सुदृढ़ आस्था और श्रद्धा होती है। उसमें विपर्यय दोष आ ही नहीं सकता। उसको भगवान्से अपने नित्यसिद्ध सम्बन्धमें कहीं कोई अनिश्चय नहीं होता। उसका ऐसा निश्चय बुद्धिमें नहीं, प्रत्युत स्वयंमें होता है। हाँ, इसका आभास बुद्धिको अवश्य होता है।

ज्ञानी और अज्ञानीका यही तो भेद है। संसारके विषयोंमें बहुत ज्ञान रखनेवाला सच्चाज्ञानी कदापि नहीं है। सच्चा ज्ञानी वही है – जिसे संसार तो असत् अनुभव हो और भगवान्के विषयमें उसे संशय-विपर्ययहीन सुदृढ विश्वास एवं निश्चय हो।

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः

जो भगवद्भक्त इस प्रकार जब भगवान्का ही हो जाता है, तब उसके मन-बुद्धि भी स्वभावतः भगवान्में ही लग जाते हैं। जहाँ प्रेम होता है, वहाँ स्वाभाविक ही मनुष्यकी मन-बुद्धि रमती है। भक्तके लिये भगवान्से बढ़कर न तो कोई प्रिय होता है, न ही कोई श्रेष्ठ । भक्तका प्रेम जब भगवान्के सिवाय कहीं नहीं रहता तो ***'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गीता ४/११)*** भगवान्की इस प्रतिज्ञाके अनुसार भगवान्को भी भक्त उतना ही प्रिय होता है।

यस्मात् लोकः न द्विजते

जब भक्त अपनेको भगवान्का मानता है, तो वह सम्पूर्ण प्राणीमात्रको भी प्रभुरूप ही देखता है। अतः उसकी मन, वाणी एवं शरीरसे होनेवाली सभी क्रियाएँ भगवान्की प्रसन्नताके लिये ही होती हैं। ऐसी अवस्थामें भक्तके द्वारा संसारमें किसी भी प्राणीको उद्वेग हो ही नहीं सकता।

भक्तकी मात्र क्रियाएँ स्वभावतः प्राणियोंके परम हितकी ही होती हैं, उसके द्वारा भूलसे भी किसीके अहितकी चेष्टा नहीं होती। इसके उपरान्त भी अपने ही दोषयुक्त स्वभावके कारण अनेक प्राणियोंको भक्तकी हितमूलक चेष्टाएँ भी उद्वेगजनक प्रतीत होती हैं। इसमें भक्तका कोई दोष नहीं होता। भर्तृहरिजी कहते हैं :–

मृगमीनसज्जनानां तृण-जल-संतोष-विहित-वृत्तीनाम् ।
लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणवैरिणो जगति ।। **(नीतिशतक ६१)**

हरिण, मछली और सज्जन क्रमशः तृण, जल, और संतोषपर अपना

जीवन निर्वाह करते हैं (किसीसे कुछ नहीं चाहते) परन्तु व्याध, मछुए और दुष्टलोग अकारण ही इनसे वैर करते हैं।

भक्तोंका चरित्र, जो मात्र भगवान्‌को ही अपना मानते हैं, इतना निर्मल होता है कि उनसे द्वेष रखनेवाले लोग भी उनके चिन्तन, संग, दर्शन, स्पर्श एवं वार्त्तालापके प्रभावसे अपना आसुरीस्वभाव छोड़कर उनके भक्त हो जाते हैं। श्री तुलसीदासजी कहते हैं –

उमा सन्त कइ इहइ बड़ाई । मन्द करत जो करइ भलाई ।।

भले ही अपने आसुरी-स्वभाववश कोई भक्तकी हितकर क्रियाओंसे भी उद्वेग कर सकता है, भले ही कोई बदलेकी भावनासे ग्रसित हुआ अपनेको भक्तका शत्रु भी मान सकता है, परन्तु भक्तकी दृष्टिमें उसका न तो कोई शत्रु ही होता है और न ही वह किसीको उद्विग्न करनेका भाव ही रखता है ।

यः लोकात् नो द्विजते

जो अपनेको भगवान्‌का अंश मानता है ऐसे भक्तका शरीर, मन एवं इन्द्रियाँ भगवत्प्रेममें इतनी निमग्न रहती हैं कि उसको प्राणीमात्रकी क्रियाओंमें भगवान्‌की लीला ही दीखती है; अतः उसे किसीकी किसी भी क्रियासे कभी उद्वेग नहीं होता। दूसरे, भगवान् उसके हैं – ऐसा माननेसे वह पूर्णकाम होता है। अतः दूसरोंसे उसके उद्विग्न होनेका प्रश्न ही नहीं होता।

हर्षामर्षभयोद्वेगैः मुक्तो यः स च मे प्रियः

भक्त हर्षादि विकारोंसे रहित होता है क्योंकि उसके भगवान् सर्वत्र, सब समय सम एवं पूर्णरूपमें उसे प्राप्त होते हैं। उसकी प्रसन्नता नित्य, एकरस, विलक्षण और अलौकिक होती है। वह क्षणिक नाशवान् सांसारिक पदार्थोंके संयोग-वियोगसे उत्पन्न होनेवाली नहीं होती।

दूसरे लोगोंको अपने समान या अपनेसे अधिक सुख-सुविधा, धन, विद्या, महिमा, आदर-सत्कार, प्राप्त होता देखकर साधारण मनुष्यके अन्तःकरणमें उनके प्रति ईर्ष्या होने लगती है, क्योंकि उसको दूसरोंका उत्कर्ष सहन नहीं होता। अनेक बार कुछ साधकोंके अन्तःकरणमें भी दूसरे साधकोंकी उन्नति और प्रसन्नता देखकर किंचित् ईर्ष्याका भाव पैदा हो जाता है। परन्तु अपनेको भगवान्‌का अंश समझनेवाला भक्त इस विकारसे सर्वथा रहित होता है। उसकी दृष्टिमें भगवान्‌का अंश होनेसे किसीकी स्वतंत्र सत्ता रहती ही नहीं, अतः वह किससे अमर्ष एवं ईर्ष्या करे ?

इसी प्रकार इष्टके वियोग और अनिष्टके संयोगकी आशंकासे होनेवाले

विकारको 'भय' कहते हैं। भय दो प्रकारका होता है। पहला, आन्तरिक कारणोंसे भय होता है – जैसे चोरी, झूठ, कपट, व्यभिचार आदि शास्त्रविरुद्ध भाव एवं आचरणोंसे घटित होनेवाला भय। दूसरा, बाह्य कारणोंसे भय होता है, जैसे सिंह, साँप, चोर, डाकू, घातक बीमारी आदिसे कष्ट एवं अनिष्ट होनेकी आशंकाका भय। सबसे बड़ा भय मृत्युका होता है। ये सभी भय मात्र शरीरके आश्रयसे ही पैदा होते हैं। भगवान्को अपना एवं अपनेको भगवान्का माननेवाले भक्तका आश्रय शरीर कदापि नहीं होता, वरं उसके नित्य एवं अखण्ड आश्रय भगवान् ही होते हैं। हाँ, वह यह अवश्य समझता है कि ज्योंही भगवच्चरणोंका उसका आश्रय शिथिल हुआ, उसे सब भय एवं आपद् घेर लेंगे, अतः वह उनसे अति दृढ़तापूर्वक जुड़ा रहता है। फिर उसे सब विधानोंमें अपने प्रियतम भगवान्की परम मंगलमयी लीला ही दिखती है, अतः उसके भगवान्की लीलासे भयभीत होनेका तो प्रश्न ही नहीं उठता।

मनमें एकरूपता न होकर, मनके हलचलयुक्त हो जानेको 'उद्वेग' कहते हैं। यहाँ भगवान्ने 'उद्वेग' शब्दका प्रयोग तीन अर्थोंमें किया है।

१. भक्तकी कोई भी क्रिया उसकी ओरसे किसी भी अन्य प्राणीके उद्वेगकी हेतु नहीं होती ।

२. भक्त दूसरे प्राणीकी किसी भी क्रियासे उद्विग्न नहीं होता ।

३. बार-बार कोशिश करनेपर अपना सुधार नहीं कर पाना, अपनी साधनाका इच्छानुसार फल नहीं मिलना, बहुत ग्रीष्म, शीत, वर्षा, बाढ़ आदि प्राकृत विपदाओंका बार-बार आना भी किसीके उद्वेगके हेतु हो सकते हैं।

उपरोक्त दो प्रकारके उद्वेग ऐसे भक्तको, जो भगवान्को अपना मानता है, एवं अपनेको भगवान्का अंश समझता है, नहीं होते। अब यहाँ तीसरे उद्वेगका उल्लेख है। कहनेका इतना ही तात्पर्य है, भक्त जब यह दृढतासे मान लेता है कि भगवान् मेरे हैं, और वे जो कुछ कर रहे हैं सब परम आत्मीयतापूर्ण ही हो रहा है, और जो मेरे हितमें परमावश्यक है, वही हो रहा है, तो उसके अन्तःकरणमें उद्वेग नामक वस्तु रहती ही नहीं।

उद्वेग होनेमें आसुरी स्वभाव और अज्ञानजनित मन, बुद्धि एवं शरीरको अनुकूल करनेकी इच्छा ही प्रधान हेतु हैं। जो पूर्णरूपेण भगवान्का है, उसकी स्वतंत्र इच्छा होनेका तो प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि भगवान्की इच्छा ही वास्तवमें उसकी इच्छा होनी चाहिये। उसमें आसुरी-स्वभाव भी होनेका प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि जब वह भगवान्का अंश है तो भगवान्का स्वभाव ही उसका स्वभाव स्वभावतः ही होगा। अनिच्छासे प्राप्त अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिको

वह निश्चय ही भगवान्‌का कृपापूर्ण अनुग्रह ही तो देखेगा और निरन्तर आनन्दमें ही मग्न रहेगा।

सारांशकी बात यही है कि जो परमात्माको अपना नहीं मानता, न ही अपनेको परमात्माका मानता है, साथ ही संसारसे पूरा बँधा है, उसे ही हर्ष, अमर्ष, भय, उद्वेग एवं बंधन होता है। भक्तकी दृष्टिमें तो एक भगवान्‌के सिवा अन्य किसीकी भी स्वतंत्र सत्ता नहीं रहनेसे ये विकार उसके पास भी नहीं फटकते। जो भगवान्‌का है एवं जिसके भगवान् हैं, वह यावन्मात्र दुर्गुण-दुराचारोंसे सर्वथा रहित होता है। उसे गुणोंका भी अभिमान नहीं होता, क्योंकि उसके तो मात्र भगवान् ही होते हैं और भगवान्‌का होना ही उसका अभिमान होता है।

अगर उस भक्तको अपनेमें कभी कोई गुण दिखता भी है, तो वह उसको भगवान्‌का ही मानता है, अपना नहीं। उसके भीतर तो उसे भगवान्-ही-भगवान् पूरे भरे दिखते हैं – न तो कोई गुण, न ही कोई दोष। इस प्रकार वह मात्र भगवान्‌से जुड़ा, सब संसारसे मुक्त होता है।

ऐसे भक्तको भगवान् ही सर्वाधिक प्रिय होते हैं और भगवान्‌को वह भक्त अत्यंत प्रिय होता है।

अनपेक्षः

यहाँ यह बात मुख्यतया ध्यान देनेकी है कि केवल इच्छा करनेसे संसारके पदार्थ मिल जावें और इच्छा न करनेसे नहीं मिलते हों – ऐसा कोई नियम नहीं है। वस्तुतः जो कुछ भी प्रारब्धमें है, वह स्वतः प्राप्त होता है क्योंकि जीवात्माको जो भी उसके लिये आवश्यक भोग हैं, उनका प्रबन्ध पूर्व-निर्धारित है। जहाँतक शरीर-निर्वाहकी आवश्यक सामग्रीका प्रश्न है, वह प्रबन्ध तो जीवमात्रके शरीरके लिये भगवान्‌की ओरसे पहले ही निश्चित रहता है। जो भी व्यक्ति लेनेकी प्रबल इच्छा रखता है, उसे कोई देना नहीं चाहता। इसके विपरीत किसी वस्तुकी इच्छा नहीं रखनेवाले विरक्त, त्यागी अथवा बालककी आवश्यकताओंका अनुभव अपने-आप दूसरोंको होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि इच्छा नहीं करनेसे जीवन-निर्वाह बिना माँगे स्वतः होता है।

जो भक्त भगवान्‌को अपना मानता है और अपनेको भगवान्‌का ठीक-ठीक सम्यक् प्रकारसे मानता है उसकी तो सम्पूर्ण सार–सँभाल भगवान् स्वयंको करनी पड़ती है, क्योंकि वह भगवान्‌के सिवा किसी दूसरेको स्वीकार ही नहीं करता। जैसे, बिना माँगे बच्चेको दूध पिलानेकी, वस्त्र पहननानेकी, उसके शरीरकी सम्पूर्ण रक्षाकी चिन्ता माँको अपने-आप स्वभावतः ही होती है, उसी प्रकार ऐसे भक्तकी स्वयं भगवान् अपने हाथों सब सँभाल करते हैं।

भगवान् श्रीमद्भागवतमें कहते हैं –

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम् ।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यंघ्रिरेणुभिः ।।११।१४।१६।।

अर्थात्, जो मुझसे कुछ भी नहीं चाहता, सर्वथा अपेक्षाशून्य, निरपेक्ष है, निरन्तर (अपनेको मेरा अंश मानकर) मेरा चिन्तन करता है, पूर्ण शान्त है, द्वेषरहित है, मुझे समरूपमें सर्वत्र व्याप्त अनुभव करता है, देखता है, उस महात्माके पीछे-पीछे मैं सदा – उसकी चरणरज मेरे ऊपर पड़ जाय, इस भावसे घूमा करता हूँ ।

किसी भी वस्तुकी इच्छाको लेकर भगवान्‌से कामना करनेवाला इच्छाका ही दास होता है, वह भगवान्‌का दास कदापि नहीं होता। उसके हृदयमें भगवान् नहीं बसे होकर इच्छित वस्तु ही बसी रहती है। यह तो भगवान्‌की महान् उदारता है कि वे उसको भी अपने जनकी अर्थात् 'अर्थार्थी भक्त'की संज्ञा दे देते हैं, क्योंकि वह उस इच्छित वस्तुकी प्राप्तिके लिए भी दूसरेका आश्रय न लेकर भगवान्‌पर ही भरोसा करता है।

जो स्वतः भगवान्‌को अपना मानता है, वह तो नाशवान् सांसारिक पदार्थोंकी कामना ही नहीं करता, क्योंकि वह ठीक जानता है कि इन वस्तुओंका वियोग अवश्यंभावी है और भगवान्‌का वियोग कभी हो ही नहीं सकता। इस तथ्यको ठीक हृदयंगम कर लेनेके कारण भगवान्‌को अपना माननेवाले व्यक्तिके मनमें संसारकी कुछ भी कामना नहीं रहती, वह सदा निरपेक्ष रहता है।

(एक व्यक्ति श्रोताओंमेंसे उठकर पुनः प्रश्न करता है)

प्रश्नकर्त्ता - "स्वामीजी ! क्या भगवान्‌को अपना माननेवाला व्यक्ति भगवान्‌के दर्शन अथवा उनका प्रेम प्राप्त करनेकी अपेक्षा भी भगवान्‌से नहीं रखता ?"

स्वामीजी - भाई ! जिसका अटूट विश्वास है कि मैं भगवान्‌का अंश हूँ और भगवान् मेरे हैं, सत्यांशमें वह भगवान्‌के दर्शनकी अथवा भगवान्‌से भगवान्‌का प्रेम प्राप्त करनेकी इच्छा भी नहीं रखता। इसे भली प्रकार समझ लें। जैसे हमारी अँगुली, हाथ, पैर हमारे शरीरके भाग हैं, अंश हैं, वे कभी यह कामना नहीं करते हम हाथसे, पैरसे, अपने किसी छोटेसे अवयवसे भी प्रेमप्राप्त करें। हमारे समग्र अंग-अवयव, यहाँतक कि एक रोम भी हमसे बिना माँगे हमारा पूरा-पूरा प्रेम प्राप्त कर रहा है, वैसे ही अपनेको भगवान्‌का अंश समझनेवाला, यह ठीक समझता है कि कोई अंशी अपने अंशको बिना प्रेम दिये रह ही नहीं सकता। अतः उसकी कोई भी माँग या तो उसका अविश्वास है अथवा उसके भावमें,

समझमें कुछ कमी ही है। जैसे अंगी अपने अंगको स्वभावतः पूर्ण प्रेम देता है, क्योंकि अंग तो उसका ही है; उसी प्रकार अंशी अंशको स्वभावतः ही प्रेम दे रहा है । दूसरे, दर्शनकी तो तभी प्रश्न उठता है जब अदर्शन हो, वियोग हो, दूरी हो, पृथकत्व हो। जब हम भगवान्‌के ही अंश हैं, तो दर्शन क्या, भगवत्प्राप्ति भी हमें हो ही गयी, यही हमारा दृढ निश्चय होना चाहिये। कोई भी अंश यदि अंशीको अप्राप्त है, तो अशांशीभाव सिद्ध ही नहीं हुआ।

प्रश्नकर्त्ता - "स्वामीजी ! सागर अंशी है, जल अंश है परन्तु जल सागरसे पृथक्, दूर, वियुक्त रेगिस्तानके किसी कूपमें हो सकता है, उसी प्रकार हम भगवान्‌के अंश होकर क्या वियुक्त नहीं हो सकते ?"

स्वामीजी - भाई ! तुम्हारा सागरका उदाहरण भगवान्‌के प्रसंगमें समीचीन सांगोपांग नहीं है। सागरमें जलका बाहुल्य है, परन्तु सागर समग्र जल-तत्त्वका प्रतिनिधि नहीं है। हाँ, यह कह सकते हो कि जल-तत्त्व (हाइड्रोजनके दो भाग एवं ऑक्सीजनका एक भाग) अंशी है और जलकी बूँद अंश है। यहाँ जल-तत्त्वसे जलकी बूँदका वियोग कदापि नहीं हो सकता। जहाँ भी जलकी बूँद है, वहाँ हाइड्रोजन एवं ऑक्सीजनके परमाणु अवश्यमेव हैं।

कहनेका यही अर्थ है कि भगवान्‌को अपना माननेवाला अपनेको भगवान् से पूर्ण संयुक्त अनुभवकर उनकी सब शक्ति, समृद्धिका निजको पूरा स्वामी ही मानता है, तो वह उनसे क्या अपेक्षा करेगा ? यदि वह अपेक्षा करता है, तो निश्चय ही उसकी मान्यता एवं विश्वासमें कमी है। कोई भी अंश अंशीसे एक ही होता है। श्रुति कहती है :–

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।

अर्थात्, भगवान् पूर्ण हैं और उनसे प्रकाशित होनेवाला इदं रूपसे दिखनेवाला यह संसार भी पूर्ण है क्योंकि पूर्णसे पूर्णही निकलता है। पूर्णसे पूर्णको भी यदि अपहृत कर लिया जाए, तो भी वहाँ अवशेष शून्य नहीं – पूर्ण ही बचता है।

अतः जब भगवान् पूर्ण हैं तो उनका अंश भी पूर्ण ही है। भगवान्‌का अंश उनका सजातीय होनेसे भगवान्‌से कुछ भी अपेक्षा नहीं रखेगा, क्योंकि वह स्वयं भी तो पूर्ण भगवान् ही होगा।

शुचिः

लौकिक दृष्टिसे तो आचरण-भ्रष्ट होनेसे हम किसीको 'अपवित्र' कहते हैं, परन्तु वास्तवमें जो कुछ अपवित्रता आती है, वह सबकी-सब भगवान्‌से

विमुख होनेसे ही आती है। जैसे, अङ्गार अग्निसे पृथक् होते ही कोयला हो जाता है। उस कोयलेको साबुन लगाकर कितना ही कोई धोये, उसका कालापन मिट ही नहीं सकता। हाँ, यदि पुनः अग्निमें रख दिया जाय, तो वह अपना समग्र कालुष्य त्यागकर पुनः चमक उठता है। ऐसे ही भगवान्‌के अंश इस जीवमें अपवित्रता, कालापन भगवान्‌से विमुख होनेसे ही आता है। जैसे ही यह भगवान्‌के सम्मुख होकर अपने स्वरूपको समझ लेता है कि 'मैं तो भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं' बस उसकी समग्र अपवित्रता उसी क्षण स्वतः मिट जाती है। उसे अपवित्रताको मिटानेके लिये किसी पृथक् अन्य साधनकी आवश्यकता नहीं रहती। उसमें तो इतनी पवित्रता आ जाती है कि उससे समग्र दुनिया ही पवित्र हो उठती है। भगवान् ऐसे भक्तको अपना मुकुटमणि बना लेते हैं।

जो भगवान्‌को पूर्णरूपेण अपना एवं अपनेको भगवान्‌का अनुभव करता है, ऐसे भक्तके शरीर-कलेवरमें 'मैं', 'मेरेपन' के स्थानपर भगवान् ही होते हैं, क्योंकि अपनेको भगवान्‌का अंश समझनेके कारण उसके 'मैं' – साक्षात् भगवान् हो जाते हैं और अपनेको भगवान्‌का माननेके कारण उसके 'मेरे' भगवान् ही हो जाते हैं। अतः ऐसे महाभाग्यवान् साधकका शरीर भी अत्यंत पवित्र होता है। ऐसे साधकके अन्तःकरणमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक, काम-क्रोधादि विकार नहीं रहनेसे उसका अन्तःकरण अत्यंत पवित्र होता है। ऐसे भक्तके दर्शन, स्पर्श, वार्त्तालाप और चिन्तनसे दूसरेलोग भी पवित्र हो जाते हैं। तीर्थ सबलोगोंको पवित्र करते हैं, परन्तु ऐसे भक्त तीर्थोंको भी तीर्थत्व प्रदान करते हैं। तीर्थ भी उनके चरण-स्पर्शसे पवित्र हो जाते हैं। ऐसे भक्तोंके हृदयमें भगवान् अखण्ड, नित्य विराजित रहते हैं, अतः पवित्रोंको भी पवित्र करनेवाले भगवान्‌के प्रभावसे ये भक्त तीर्थोंको भी महातीर्थ बनाते विचरण करते हैं।

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता ।।

(श्रीमद्भा. १।१३।१०)

महाराज भागीरथ गंगाजीसे कहते हैं : –

साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः
हरन्त्यघं तेऽङ्गसंगात् तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः ।।

(श्रीमद्भा. ९।९।६)

अर्थात्, हे माते ! जिन्होंने लोक-परलोककी समस्त कामनाओंका त्याग कर दिया है, जो संसारमें उपरत होकर अपने-आपमें शान्त हैं, जो ब्रह्मनिष्ठ और लोकोंको पवित्र करनेवाले हैं, परोपकारी साधुपुरुष हैं, वे अपने अङ्गस्पर्शसे तुम्हारे (पापियोंके अंग-स्पर्शसे प्राप्त) समस्त पापोंको नष्ट कर देंगे, क्योंकि

उनके हृदयमें सर्वपापहारी हरि नित्य निवास करते हैं।

दक्षः

मानव जीवनका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति है। इसीके लिये मनुष्य शरीर मिला है। अतः जिसने ठीकसे दृढ़तापूर्वक यह अनुभव ठोक-बजाकर कर लिया कि मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं, वही दक्ष है। भगवान्‌का होना ही भगवत्प्राप्ति है। हम अपनेको शरीर, इन्द्रियों एवं संसारका मानते हैं, इसीलिए भगवान्‌से कटकर भगवान्‌से अपनेको दूर, विलग, पृथक् और अप्राप्त समझ रहे हैं। भगवान्‌की परम पावन एवं सत्य दृष्टिमें तो जीवमात्र उनका अंश है, अतः एक नगण्य कीटसे लेकर ब्रह्माजीतक सभी जीवोंको भगवान् पूर्णतया प्राप्त हैं ही।

सांसारिक दक्षता और चतुराई वास्तवमें दक्षता नहीं है। एक दृष्टिसे तो व्यवहारमें अधिक दक्ष होना कलंक ही है। इससे जड़ पदार्थोंका अन्तःकरणमें आदर बढ़ता है। यह दक्षता तो मनुष्यका पतन करानेमें ही हेतु है। भगवान् अपने श्रीमुखसे श्रीमद्भागवतमें कहते हैं :-

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्
यत् सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम् ।।११।२९।२२

विवेकियोंके विवेक और चतुरोंकी चतुराईकी पराकाष्ठा इसीमें है कि वे इस विनाशी और असत् शरीरके द्वारा मुझ अमृत (अविनाशी एवं सत्य तत्त्व) को प्राप्त कर लें ।

उदासीनः

'उदासीन' शब्दका अर्थ ही यह है कि जो 'उत' अर्थात् 'उच्च' (भगवान्) में आसीन, बैठा हुआ है, जो व्यक्ति अपनेको संसार एवं शरीरका नहीं मानकर भगवान्‌का मानता है, वही वास्तवमें उच्चपदपर आसीन है। भगवान् ही सर्वोच्च हैं।

लौकिक व्यवहारमें तटस्थ, निर्लिप्त और पक्षपातसे रहित व्यक्तिको उदासीन कहा जाता है। वस्तुतः जो भगवान्‌को इष्ट मानता है और संसारकी सम्पूर्ण कामना-वासनाको अनिष्ट – वह सांसारिक व्यक्तियों, वस्तुओं एवं परिस्थितियोंकी अनुकूलता प्रतिकूलता – दोनोंसे ही परम उदासीन और निर्लिप्त ही रहता है। अपनेको भगवान्‌का माननेवाले व्यक्तिके अन्तःकरणमें मित्र और शत्रु समझे जानेवाले व्यक्तियोंके प्रति, हर्ष एवं शोक उत्पन्न करनेवाली परिस्थितियोंके प्रति और वस्तुओंकी प्राप्ति एवं नाशके प्रति सदा उदासीनता ही रहती है। साथ ही वह शरीरसहित सम्पूर्ण संसारको ही क्योंकि परमात्माका मानता है, इसलिये उसका व्यवहार सभीके प्रति पक्षपातरहित ही होता है।

गतव्यथः

अनुकूलताकी प्राप्ति होनेपर चित्तमें प्रसन्नता और प्रतिकूलताकी प्राप्ति होनेपर चित्तकी खिन्नताजन्य जो हलचल होती है, उसे 'व्यथा' कहते हैं। अतः अनुकूलता-प्रतिकूलतासे अन्तःकरणमें होनेवाले राग-द्वेष, हर्ष-शोक, आदि विकारोंका जिसमें सर्वथा अभाव हो, उस भक्तको 'गतव्यथ' कहते हैं।

जो भक्त अपनेको पूर्णरूपेण भगवान्का अंश समझता है, वह अपने अन्तःकरणमें भगवान्को पूर्ण, नित्य, अखण्ड, अविनाशी रूपमें लबालब भरा अनुभव करता है, अतः उसके हृदयमें भागवती-आनन्द इतना परिपूर्ण भरा होता है कि उसे अन्य प्रकारकी किसी व्यथाको अपने भीतर प्रवेश करानेका स्थान ही नहीं दिखता। फिर यदि कोई विकार अथवा अभाव हृदयमें प्रवेश करनेका साहस भी कर लेता है, तो भक्तके अन्तःकरणमें पहलेसे ही विद्यमान परिपूर्ण भागवती-आनन्द उस अभाव एवं विकारको वहीं अपने अथाह, असीम, अनन्त आनन्दमें एकमेक करके आनन्दरूप ही कर देता है। अतः भक्त पूर्णरूपेण 'गतव्यथ' ही होता है।

सर्वारम्भपरित्यागी

भोग और संग्रहके उद्देश्यसे नये-नये कर्म करनेको 'आरंभ' कहते हैं। भगवान्को अपना माननेवाला व्यक्ति भोग और संग्रहके लिये किये जानेवाले कर्मोंका सर्वथा त्यागी होता है। भक्त भगवन्निष्ठ होता है। भक्तकी दृष्टिमें प्रकृति और प्रकृतिका कार्य, मात्र भगवान्का है। अतः वह भगवान्के सिवाय किसीको अपना नहीं मानता। अतः अपनेको भगवान्का माननेके कारण वह भगवान्को पुकारनेके अतिरिक्त अपने लिये कुछ भी कर्त्तव्य नहीं समझता। उसके द्वारा होनेवाले किंचिन्मात्र कर्म भगवान्की प्रसन्नताके लिये ही होते हैं।

अतः वह धन-संपत्ति, सुख-आराम, मान-बड़ाई, आदिके लिये किये जानेवाले नये-नये कर्मोंका आरंभ कभी नहीं करता।

यो मद्भक्तः स मे प्रियः

'भागो भक्तिः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार जो भगवान्का भाग, अंश अपनेको जानता है और सम्यक्रूपसे ऐसा मानता भी है, वही भगवान्का भक्त है। मैं भगवान्का अंश हूँ और भगवान् पूर्णतया मेरे हैं, इस सम्यक् ज्ञानके द्वारा ऐसा मानने-जाननेवाले व्यक्तिकी सभी चित्त-ग्रंथियाँ जड़तासे सर्वथा, सर्वांशमें ही मुक्त हो जाती हैं, एवं वह भगवान्की हेतुरहित निष्कारण भक्ति करने लगता है। भगवान्के महान् गुण उसको पूर्णतया आकर्षित कर लेते हैं। जबतक जीव

मन-बुद्धि, इन्द्रियों, शरीर-कुटुम्बादिको अपना माने हुए रहता है, तभीतक वह शारीरिक-निर्वाह, पारिवारिक भरण-पोषण अथवा सामाजिक मान-प्रतिष्ठाकी कामनासे इनसे उलझा रहता है। इसमें उलझ जानेके कारण ही वह भगवान्‌से विमुख हुआ रहता है। किन्तु उसकी यह भगवान्‌से दूरी यथार्थ कदापि नहीं है। संसारसे जीवकी एकता भी यथार्थ नहीं है।

यह शरीर एवं संसारसे एकता मात्र भूलसे मानी हुई ही है। वस्तुतः सत्य तो यही है कि प्राणीमात्र भगवान्‌के अपने-के-अपने, सर्वथा एवं सर्वांशमें उनके अंश हैं। भोगोंमें भी सर्वव्यापी भगवान् ही परिपूर्ण हैं। जीवकी भोगोंमें आत्यंतिक आसक्तिके कारण ही भोगोंमें हमें छिपे भगवान् दिखते नहीं। जब इन नाशवान् भोगोंकी ओर जीवका आकर्षण नहीं रहता, उस स्थितिमें स्वतः ही उसका मन अपने अंशी भगवान्‌की ओर खिंच जाता है। फिर एकमात्र परमात्मासे ही उसका स्वतः प्रेम हो जाता है। ऐसे अनन्य प्रेमी भक्तको भगवान् यहाँ ***'मद्भक्त'*** कहते हैं। और जो भगवान्‌में अनन्य प्रेम रखेगा, तो निश्चय ही भगवान् भी उससे अनन्य प्रेम ही करेंगे, अतः वह भगवान्‌का अतिशय प्रिय तो निश्चय ही होगा।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति

संसारमें मुख्य विकार चार ही हैं – राग, द्वेष, हर्ष एवं शोक । जो जीव अपनेको भगवान्‌का अंश मानता है एवं भगवान्‌को अपना मानता है, ऐसे साधकमें ये चारों ही विकार नहीं होते। उसको यह ठोक-बजाकर अनुभव होता है कि संसारका प्रतिक्षण वियोग हो रहा है और भगवान्‌से कभी भी वियोग न हुआ था, न ही वियोग है और न ही कभी वियोग होना संभव है। संसारकी कोई स्वतंत्र सत्ता भी नहीं है। यह तो मात्र भगवान्‌में ही ठूँठमें भूतवत्, सीपमें रजतवत् भासमान है। इस प्रकार गहन विचार, मनन और निदिध्यासनसे इस वास्तविकताका अनुभव करलेनेपर जीवका जड़तासे सम्बन्ध हटने लगता है और भगवान्‌के साथ अपने नित्य-सिद्ध सम्बन्धको वह अटल, अखण्डरूपसे पहचानने लगता है। इस कारण उसका अन्तःकरण सांसारिक पदार्थों, व्यक्तियों और परिस्थितियोंसे उत्पन्न राग-द्वेषादिसे सर्वथा मुक्त हो जाता है।

हर्ष एवं शोक तो राग-द्वेषके ही परिणाम हैं। जिसके प्रति राग होता है, उसके संयोगसे हर्ष और जिसके प्रति द्वेष होता है, उसके वियोगसे हर्ष होता है और जिसके प्रति द्वेष होता है, उसकी प्राप्ति एवं प्राप्तिकी आशंकासे एवं जिसके प्रति राग है, उसकी अप्राप्ति एवं अप्राप्तिकी आशंकासे ही शोक होता है। परन्तु जो जीव अपनेको भगवान्‌का अंश मानता है, और भगवान्‌को अपना समझता है उसमें राग-द्वेषका अत्यन्ताभाव रहनेके कारण स्वतः एक साम्यावस्था

उदय हो जाती है और वह उसे सभी विकारोंसे सर्वथा मुक्त कर देती है।

वैसे रात्रिके समय अन्धकारमें दीपक जलानेकी कामना होती है, दीपक जलानेसे हर्ष होता है, दीपक बुझानेवालेके प्रति द्वेष या क्रोध होता है, और पुनः दीपक कैसे जले – ऐसी चिन्ता होती है। ये सभी बातें रात्रि होनेसे ही घटित होती हैं। परन्तु जब मध्याह्नका सूर्य तपता है तो दीपक जलानेकी कामना नहीं होती, दीपक जल जाय तो हर्ष नहीं होता, दीपक बुझानेवालेके प्रति द्वेष अथवा क्रोध नहीं होता और अन्धेरा नहीं होनेसे प्रकाशके अभावकी चिन्ता भी नहीं होती, इसी प्रकार भगवान्‌से विमुख एवं संसारके सम्मुख होनेसे ही शरीर-निर्वाह और उसके सुखके लिए अनुकूल पदार्थ, परिस्थिति, आदिके मिलनेकी कामना होती है, इनके मिलने पर हर्ष होता है, इनकी प्राप्तिमें बाधा पहुँचानेवाले के प्रति द्वेष या क्रोध होता है और इनके नहीं मिलनेपर 'कैसे मिलें' ऐसी चिन्ता होती है। परन्तु जो भगवान्‌का अपनेको अंश मानते हुए भगवान्‌से सदा जुड़ा, मस्त है; उसमें ये हर्ष-शोक, राग-द्वेषादि विकार कदापि नहीं होते, वह पूर्णकाम हो जाता है।

शुभाशुभ परित्यागी

वास्तवमें ममता, आसक्ति एवं फलेच्छासे रहित होकर ही शुभकर्म करनेके कारण भक्तके कर्म, अकर्म हो जाते हैं। 'अमुक कर्म मैं करता हूँ', 'इस कर्मका अमुक फल मुझे मिले' – ऐसा भाव रखकर कर्म करनेसे ही मनुष्य कर्मसे बँधता है। प्रत्येक कर्मका आरंभ भी होता है, और अन्त भी होता है। इसलिए उसका फल भी आरंभ और अन्त होनेवाला होता है। परन्तु जीव सनातन है, अतः वह कर्म और उसके फलसे सर्वथा संबंधरहित है। मात्र फलकी इच्छा ही उसे बाँधती है।

अपनेको भगवान्‌का एवं भगवान्‌को अपना माननेवाले साधकमें मात्र भगवान्‌की ही कामना रहती है, भगवान्‌के अतिरिक्त किसी अन्य फलकी कामना से वह शून्य होता है। वह कर्म करता है, तो मात्र भगवान्‌की सेवा एवं प्रसन्नताके लिये। संसारसे ऐसा साधक पूर्ण वीतराग एवं भगवान्‌के प्रति रागी होता है। अतः उसके सभी शुभकर्म अकर्म हो जाते हैं। अशुभकर्म, विकर्म तो ऐसे भक्तसे हो ही नहीं सकते। अशुभकर्म एवं विकर्म तो सांसारिक कामनाओंके बहुत बढ़ जानेसे ही होते हैं। शास्त्र-निषिद्ध कर्मका नाम ही विकर्म अथवा अशुभकर्म है। भगवान्‌को अपना माननेवालेसे विकर्म तो हो ही नहीं सकते, क्योंकि विकर्म तो उसीसे होने संभव हैं जो घोर संसारकी कामना करता है और भगवान् एवं शास्त्रको मानता ही नहीं है।

साधक जबतक प्रकृतिसे अपना संबंध मानता है तबतक वह कर्म करने में अपनी सांसारिक उन्नति मानता है। सांसारिक कामना ही उसके शुभ एवं अशुभ दोनों प्रकारके कर्मकी हेतु होती है। मनुष्यको कर्म नहीं बाँधते, प्रत्युत कर्मोंमें राग-द्वेष ही बाँधते हैं। भगवान्‌को अपना समझनेवाला सांसारिक कामनासे कर्म नहीं करता, वह तो मात्र भगवत्सेवार्थ कर्म करता है। अतः वह शुभ एवं अशुभ दोनों ही कर्मोंके फलको मात्र भगवान्‌को ही समर्पित करता रहता है। अतः वह शुभ एवं अशुभ दोनों कर्मोंका ही नहीं, इन सम्पूर्ण कर्मोंके राग-द्वेषका भी त्यागी होता है।

भक्तिमान्यः स मे प्रियः

ऐसे भक्तकी भगवान्‌में अत्यधिक प्रियता रहती है। उसके द्वारा मात्र भगवान्‌का स्मरण-कीर्त्तन, चिन्तन-भजन, उन्हें प्रसन्न करनेके हेतुसे ही निरन्तर होता रहता है।

वह जागता है, तो भगवान्‌के लिये, सोता है, तो भगवान्‌के लिये। वह स्वप्न भी भगवान्‌के ही देखता है। ऐसे ही भक्तके लिये गीता ***'भक्तिमान्'*** **शब्दका प्रयोग करती है। भगवान्‌के** प्रति इस अनन्य प्रेमके कारण वह भगवान्‌का **अत्यंत प्रिय होता है।**

समः शत्रौ च मित्रे च

यहाँ भगवान्‌ने भक्तमें व्यक्तियोंके प्रति होनेवाली समताका वर्णन किया है। जो प्राणी भगवान्‌को ही अपना मानता है एवं अपनेको भगवान्‌का अंश समझता है, उसमें सर्वत्र भगवद्‌बुद्धि रहने तथा राग-द्वेषका राहित्य होनेके कारण किसी भी व्यक्तिमें अपने-परायेका भाव नहीं रहता। न ही उसका कोई शत्रु एवं मित्र भी होता है। लोग भले ही उसकी स्वभावानुसार अनुकूलता किंवा प्रतिकूलताको देखकर उसमें शत्रुता एवं मित्रताका आरोप कर लें। परन्तु वह तो सर्वत्र भगवान्‌को देखता हुआ सदैव पूर्णतया सम ही रहता है। अपने-अपने भावके अनुसार कोई भले ही उससे शत्रुता, मित्रताका व्यवहार करे।

तथा मानापमानयोः

मान एवं अपमान तो दूसरेके द्वारा की जानेवाली क्रिया है जो शरीरके प्रति होती है। भक्तकी अपने कहलानेवाले शरीरसे न तो अहंता होती है, न ही ममता। इसलिये शरीरका मान-अपमान होनेपर भी भक्तके अन्तःकरणमें कोई हर्ष-शोक नहीं होता। वह नित्य-निरन्तर अपने प्रियतम प्रभुके स्मरणमें डूबा हुआ सदैव सम ही रहता है।

इन्द्रियोंका अपने-अपने विषयोंसे संयोग होनेपर अन्तःकरणमें साधारणतया

विकार होता ही है। सरदी-गरमी त्वगिन्द्रियके विषय हैं। भक्तकी त्वगिन्द्रियाँ भगवान्के अंग-स्पर्शके सुखमें इतनी तल्लीन रहती हैं कि उसे सरदी-गरमीका अनुभव ही नहीं होता। यह उसकी मात्र त्वगिन्द्रियको लेकर ही ऐसी स्थिति नहीं है, समस्त इन्द्रियोंके विषयोंमें उसकी ऐसी ही स्थिति होती है।

इसी प्रकार, सुख-दुःखकी बात है। सुख-दुःखकी परिस्थिति अवश्यंभावी है, अतः उससे रहित होना तो संभव ही नहीं है। इसीलिये, भक्त अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितिमें सम रहता है। उसे प्रतिकूल और अनुकूल दोनों ही परिस्थितियाँ प्रभुका मंगलमय दान ही समझमें आती हैं। अतः उसे सुख-दुःख न होकर सदैव आनन्द ही आनन्द सर्वत्र भरा दृष्टिगोचर होता है।

संग विवर्जितः

'संग' शब्दका अर्थ संयोग और आसक्ति दोनो ही होता है। मनुष्यके लिये यह तो संभव ही नहीं है कि वह सब पदार्थोंका संग त्याग दे। जबतक प्रारब्ध-भोग शेष है शरीरसे उसका संग तो लगा ही है। यदि प्राणी-पदार्थोंका स्वरूपसे ही त्याग करनेपर मुक्ति होती, तो निद्राकाल, अथवा मूर्च्छाकालमें जीवकी मुक्ति हो ही जानी चाहिये। फिर मरनेवाला प्राणी तो सभी पदार्थ और उनके संबंधोंका त्याग करके जाता ही है, वह तो मुक्त हो ही जाना चाहिये। परन्तु ऐसी बात है नहीं। अन्तःकरणमें आसक्ति रहते हुए शरीरका त्याग करनेपर भी शास्त्रानुसार संसारका बन्धन बना ही रहता है। अतः यही निश्चय होता है कि संसार एवं प्राणी-पदार्थका संयोग बाँधनेवाला नहीं है, इनका राग एवं आसक्ति ही बाँधने वाली है।

जो भगवान्को अपना मानते हैं एवं अपनेको भगवान्का मानते हैं ऐसे भक्तोंमें भगवान्का संयोग (संबंध) अविरत रहता है। उनमें आसक्ति भी भगवान्की ही रहती है, क्योंकि आसक्तिके बिना कोई किसीसे अनवरत संबंध, संयोग रख ही नहीं सकता। किसीका अखण्ड चिन्तन तभी होता है, मन किसी भी प्राणी-पदार्थमें तभी लगता है, जब उसकी उसमें आसक्ति होती है। संसारकी आसक्तिका हेतु संसारमें मेरापन है, शरीरमें 'मैंपना' है। यह अज्ञान एवं अविवेकके ही कारण है।

प्रभुको मेरा माननेवालेकी आसक्ति संसारसे हटकर प्रभुके अनन्त, अविनाशी, अलौकिक, चिन्मय रूप-गुणोंमें सिमट जाती है। जैसे संसारसे आसक्ति हटी, मलिन शरीरमें आसक्ति रह ही नहीं सकती। शरीरसे 'मैंपना' हटकर, यह 'मैंपना' भगवान्के अनन्त अखण्ड 'मैंसे' एक हो जाता है।

अपने अंशी भगवान्से विमुख होकर, भूल एवं अज्ञानसे संसारका अपना

मान लेनेके कारण ही हमारा संसारसे राग हो गया है। यह राग ही संसारमें आसक्तिका हेतु है। संसारसे अपनापन मात्र माना हुआ है। वास्तविक अपनापन संसारसे हो ही नहीं सकता, क्योंकि संसार स्वरूपतः ही 'पर' है। यह मानां हुआ अपनापन, भूलसे है और भूलके निवृत्त होते ही स्वभावतः हट जाता है। भगवान्‌से अपनापन वस्तुतः है ही, क्योंकि भगवान् ही सबके आत्मा हैं। अतः असत्‌के हटनेसे सत्य स्वयं प्रकाशित हो जाता है।

तुल्यनिन्दा स्तुतिः

निन्दा एवं स्तुति मुख्यतः नामकी होती है। वास्तवमें ही जो भगवान्‌को अपना मानते हैं अथवा अपनेको भगवान्‌का, उनमें नाम एवं रूप दोनोंके प्रति लेशमात्र अहंता ममता नहीं होती। शरीरको तो वे स्वयं ही निन्दनीय मानते हैं। अतः शरीरकी निन्दा सुनकर तो उन्हें प्रसन्नता ही होती है। इसी प्रकार, नामकी बात है। नाम तो मात्र शरीरको लक्षित करके शरीरका ही रखा गया है। यदि कोई नाम-रूपकी स्तुति करता है, तो भक्तको अतिशय लज्जा अनुभव होती है। भक्तकी सर्वत्र भगवद्‌बुद्धि होनेके कारण उसे स्तुति करनेवालेमें भी भगवान् ही दीखते हैं। अतः वह कभी-कभी यह मानकर कि 'अहा ! भगवान् परम वात्सल्यवश मुझमें अपनी परमोदार दृष्टिसे नहीं होनेपर भी, गुण देख रहे हैं, हर्ष से नाच उठता है' जैसे बच्चेकी कुरूपता भी माँको सुन्दरता समझमें आती है, उसके अवगुणोंमें भी माँको गुण दीखते हैं, इसी प्रकार भक्त समझता है कि सब रूपोंमें अभिव्यक्त मेरे प्रभु मुझ अवगुणीको भी अपने वात्सल्यवश गुणी देखकर हर्षित हो रहे हैं।

भक्तके द्वारा अशुभकर्म तो हो ही नहीं सकते, शुभकर्मोंमें वह केवल भगवान्‌को ही हेतु मानता है। अतः वह निन्दा-स्तुतिमें सदा सम ही रहता है।

मौनी

जो भगवान्‌को अपना मानते हैं और अपनेको भगवान्‌का मानते हैं, ऐसे भक्त स्वतः स्वाभाविक भगवत्स्वरूपका मनन करते रहते हैं। अतःकरणमें आनेवाली प्रत्येक वृत्तिमें उन्हें ***'वासुदेवः सर्वम्'*** (गीता ७।१९) 'भगवान् ही सब रूपोंमें हैं' – यही दीखता है। इसलिये, ऐसे भक्तके द्वारा निरन्तर ही भगवान्‌का मनन होता है।

यहाँ ***'मौनी'*** का अर्थ 'वाणीका मौन रखनेवाला' नहीं माना जा सकता। इसके सिवाय वाणीका मौन रखने मात्रसे भक्त होना संभव होता, तो फिर सभी गूंगे एवं बहरे भक्त हो जाते। आसुरी स्वभाववाले, दंभी व्यक्ति भी हठपूर्वक वाणीका मौन रखते हैं। इसलिये यहाँ मौनी वही है जो निरन्तर भगवत्स्वरूपका मनन करता रहता है।

संतुष्टो येन केनचित्

'सन्तुष्टो येन केनचित्' पदका शाब्दिक अर्थ तो यही है कि प्रारब्धानुसार शरीर-निर्वाहके लिये जो कुछ भी मिल जाय, उसमें संतुष्ट रहे। परन्तु वास्तवमें भक्तकी संतुष्टिका कारण, अधिक या कम सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्ति नहीं होती। भक्तकी संतुष्टि अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिसे भी नहीं होती। जो भगवान्को ही एकमात्र अपना किंवा अपनेको पूर्णरूपेण भगवान्का मानता है, ऐसा भक्त तो अपने भगवान्में ही पूर्ण संतुष्ट रहता है। इस विलक्षण संतुष्टिके कारण, वह संसारकी प्रत्येक अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिमें पूर्णतया सम रहता है। उसके अनुभवमें प्रत्येक अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति भगवान्के परम मंगलमय विधानसे ही आती है। इस प्रकार प्रत्येक परिस्थितिमें नित्य-निरन्तर संतुष्ट रहनेके कारण उसे ***'संतुष्टो येन केनचित्'*** कहा गया है।

अनिकेतः

लौकिक अर्थमें ***'अनिकेत'*** लोग उसीको कहते हैं जिसका कहीं कोई वासस्थान नहीं है। परन्तु यहाँ गृहविहीनको अनिकेत नहीं कहा गया है। इस संसारमें शरीरको तो सभी प्राणियोंने अपना निवास बना ही रखा है। वस्तुतः जिनकी स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीरमें आसक्ति है, इन्हें जो अपना मानते हैं, वे सर्वथा ***'अनिकेत'*** नहीं हैं। जो स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण तीनों प्रकारके जगत्को त्यागकर मात्र भगवान्को ही अपना निकेत अथवा आश्रय मानते हैं, वे ही भगवद्भक्त यहाँ ***'अनिकेत'*** पदसे लक्ष किये गये हैं।

स्थिरमतिः

भक्तकी बुद्धिमें भगवत्तत्त्वकी सत्ता और स्वरूपके विषयमें कोई सन्देह अथवा विपर्यय नहीं होता। अतः उसकी बुद्धि भगवत्तत्त्वके ज्ञानसे कभी, किसी अवस्थामें भी विचलित नहीं होती। इसलिये उसको ***'स्थिर मतिः'*** कहा गया है। भगवत्तत्त्वको जाननेके लिये उसको कभी किसी प्रमाण या शास्त्र-विचार, स्वाध्याय आदिकी जरूरत नही रहती, क्योंकि वह स्वाभाविकरूपसे भगवत्तत्त्वमें तल्लीन रहता है।

स्थिर-बुद्धि होनेमें कामनाएँ ही बाधक होती हैं। अतः कामनाओंके त्यागसे ही स्थिर-बुद्धि होना संभव है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्ने कहा है :—

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ।२।४४।।

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ।।२।५५।

अर्थात्, जिसका अन्तःकरण भोगोंके ऐश्वर्योंमें अत्यन्त आसक्त है एवं उनकी ओर खिंच गया है, उन मनुष्योंकी परमात्मामें निश्चयात्मिका स्थिर-बुद्धि हो ही नहीं सकती।२।४४।। जिस कालमें साधक मनोगत सम्पूर्ण कामनाओंका अच्छी प्रकार त्याग कर देता है, अपने-आपमें अपने-आपसे ही संतुष्ट रहता है, उस कालमें ही, उसकी बुद्धि स्थिर होती है और वह 'स्थित-प्रज्ञ' अथवा 'स्थिर-बुद्धि' कहलाता है । २।५५।।

जो भक्त भगवान्‌को अपना अथवा अपनेको प्रभुका मानता है, उसके अन्तःकरणमें सांसारिक सुखकी कामना नहीं रहती अपितु वह भागवती-आनन्द और भगवान्‌के संयोग-जन्य सुखमें उनके अलौकिक रूप-गुण-चिन्तनजन्य सुखमें मस्त रहता है। वह अपने प्रभुमें – जो उसकी आत्मा हैं, उनकी कृपा एवं प्रेमसे संतुष्ट रहता है, अतः उसकी बुद्धि पूर्ण स्थिर ही रहती है।

भक्तिमान् मे प्रियो नरः

मनुष्य तो स्वाभाविक रूपसे ही भक्तिसे भरा है। भगवान् उसकी आत्मा हैं और आत्मामें सब जीवमात्रका अतिशय प्रेम एवं भक्ति स्वभावसे ही रहती है। जीवसे भूल यही होती है कि वह भगवान्‌को छोड़कर शरीरको अपनी आत्मा मानने लगता है और तब वह नाशवान् क्षणभंगुर शरीर एवं उसके भोगोंकी ओर खिंचकर उनकी भक्ति करने लगता है। इसीलिए, उसे स्वाभाविक, असीम, अखण्ड आत्मसुख तो मिलता नहीं और विषय-सुखोंसे उसकी तृप्ति होती नहीं। उसके जीवनमें नीरसता भरी रहती है। जो भगवान्‌को अपना मानते हैं अथवा अपनेको भगवान्‌का अंश समझते हैं, वे भक्त अपने भगवान् और उनके अपार आनन्दमें तल्लीन रहते हैं। यहाँ, इसीलिये ऐसे ही भक्तोंके लिये ***'भक्तिमान्'*** पद आया है। वे भगवान्‌को अपना जाननेवाले भक्त ही वास्तवमें अपने मनुष्य-जीवनको सार्थक करनेवाले हैं, वे ही वस्तुतः मनुष्य हैं। जो मनुष्य शरीर पाकर भी सांसारिक भोग-संग्रहमें लगे हैं, वे नर तो द्विपद-पशु ही हैं, वे मनुष्य कहलानेके योग्य ही नहीं हैं। कहनेका इतना ही अर्थ है कि भगवान्‌को अपना माननेवाला भक्त स्वाभाविक ही सर्व-भक्तिगुणनिकेतन होता है। भगवत्कृपासे उसमें स्वाभाविक, बिना प्रयासके सम्पूर्ण दिव्य गुण स्वतः लबालब भर जाते हैं।

अतः उसे विपरीत धारणा अथवा परीक्षात्मक भाव कदापि-कदापि नहीं लाना चाहिये। 'मैं भगवान् का हूँ' – यह तथ्य है, यह मेरे मानने एवं नहीं माननेकी अपेक्षा नहीं रखता। भगवान्‌का और मेरा परस्पर जो संबंध है वह

अटूट है, अखण्ड है, नित्य है।'

जैसे विवाह होनेके बाद कन्याका अपने पिताके घरसे सम्बन्ध-विच्छेद और पतिके घरसे सम्बन्ध स्वतः ही दृढ होता चला जाता है। वह सम्बन्ध यहाँतक सुदृढ हो जाता है कि उसे यही लगता है कि 'मैं यहीं की हूँ, और ये ही मेरे हैं'। जब उसके घरमें पुत्र-वधुएँ आती हैं और खटपट करती हैं, तो वह यही कहती है कि इन परायी छोरियोंने मेरा घर बिगाड़ दिया, उसे यह याद ही नहीं रहता कि मैं भी पराये घरमें जन्मी हूँ। कन्याका पतिके घरसे तो मात्र माना हुआ संबंध ही है। हमारा तो भगवान्से अनादिकालसे नित्य-सम्बन्ध था, है एवं अनन्त कालतक रहेगा। वास्तवमें संसारके माने हुए मिथ्या संबंधोंके सुदृढ होनेसे ही हम भगवान्से हमारे सम्बन्धोंको भूल गये हैं।

अतः, आवश्यकता यही है कि इस मिथ्या भ्रमको आज, अभीसे ही त्यागकर पूर्ण निर्भय निश्‍चित हो जाएँ। भगवान्का पूर्ण भरोसा करें और संसारका भरोसा सर्वथा त्याग दें। आज आप लोगोंको सत्संगमें आनेका यही फल मिलना चाहिये कि आप सभी श्रोताओंकी, और मुझ वक्ताकी, दोनोंकी श्रद्धा एवं पूरा निश्चय भगवान्की पूर्ण सत्य उक्तिपर हो जाय कि हम सब भगवान्के थे, भगवान्के हैं और भगवान्के रहेंगे। संसारके न तो थे, न हैं एवं न ही रहेंगे। इस पूर्ण निश्चयको बारबार दोहराते हुए ही हम सब परस्पर विदाई लें ।

।। राधाकृष्णौ वन्दे ।।

।। श्रीराधा।।

उपदेश संख्या - दो

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः

उपदेशक :

परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

(भविष्यमें परम पूज्य श्रीराधाबाबाके नामसे विख्यात)

प्रवचन लिपिबद्ध करनेवाले :

श्रीदेवदत्तजी मिश्र एवं उनके सहयोगी अध्यापकगण

स्थान :	दिनांक :	*प्राप्ति-सूत्र :*
गोविन्दभवन कार्यालय, बाँसतल्ला, कलकत्ता	फरवरी १९३८ का प्रथम सप्ताह	श्रीदेवदत्तजी मिश्रकी पत्र-संग्रहकी कापी

आलोक

सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दका कलकत्ता आये हैं। श्रीसेठजीके साथ पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज भी हैं। गीता-तत्त्वविवेचनी (श्रीमद्भगवद्गीताकी टीका) का लेखन-कार्य चल रहा है। इसी अवसरपर गोविन्दभवनमें मध्याह्नका सत्संग हो रहा है। लगभग चार-पाँचसौ लोगोंकी भीड़ है। भीड़में तीन-चौथाई स्त्रियाँ हैं। एक ओर स्त्रियाँ एवं दूसरी ओर पुरुष बैठे हैं। ''जय-सीताराम, सीताराम'' का कीर्त्तन चल रहा है। एक मंचपर वक्ताके बैठनेका आसन है। आसनपर काषाय वस्त्र पहने तरुण सन्यासी शान्त अर्द्ध-निमीलित नेत्र किये बैठे हैं। समय होनेपर वे संकेत देकर कीर्त्तन स्थगित कर देते हैं।

पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज (तरुण सन्यासी) वक्ताके रूपमें मंगलाचरण प्रारंभ करते हैं :-

मंगलाचरण

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात् कृष्णात् परं किमपितत्वमहं न जाने ।।१।।
पराकृतनमद्बन्धं परं ब्रह्म नराकृति ।
सौन्दर्यसारसर्वस्वं वन्दे नन्दात्मजं महः ।।२।।
वसुदेवसुतंदेवं कंसचाणूरमर्दनम् देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ।।३।।
एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकी पुत्र एव

एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा ।।४।।

कस्तूरी तिलकं ललाटपटले वक्षःस्थले कौस्तुभं ।
नासाग्रेवरमौक्तिकं करतले वेणुः करे कङ्कणम् ।
सर्वाङ्गे हरिचन्दनं सुललितं कण्ठे च मुक्तावलिः
गोपस्त्रीपरिवेष्टितो विजयते गोपाल चूड़ामणिः ।।५।।

सच्चिदानन्दरूपाय विश्वोत्पत्त्यादि हेतवे ।
तापत्रयविनाशाय श्रीकृष्णाय वयं नुमः ।।६।।

मेरे आत्मस्वरूप बन्धुओं एवं माताओं !

हम सभी यहाँ सत्संग, भगवान्-सम्बन्धी शास्त्रोंकी श्रेष्ठ बातोंको कहने-सुननेके लिये एकत्रित हुए हैं। शास्त्रोंमें लिखी अच्छी श्रेष्ठ ऋषियोंकी अनुभूत बातें, कहने-सुनने एवं विचार तथा मनन करनेसे जीवनको भगवान्की ओर मोड़नेमें बहुत ही सहायता मिलती है। कहने-सुनने एवं मननपूर्वक विचार करनेसे ही ये बातें अनमोल, कीमती, दामी एवं उपयोगी समझमें आती हैं, तभी उनको जीवनमें धारण करनेकी प्रेरणा भी होती है। यदि सचमुच ही ये बातें हमारे जीवनका अङ्ग बन जाती हैं, हमारे द्वारा धारण हो जाती हैं, तो हम महापुरुष, महात्मा हो जाते हैं। भगवान् तो समान रूपसे सभीके हैं, चाहे कोई किसी भी धर्मके माननेवाले हों, स्त्री हों, बच्चे हों, पुरुष हों, युवक हों, वृद्ध हों।

यहाँ जितनी भी माता-बहनें अथवा भाई बैठे हैं, सभीने भक्तराज ध्रुवकी कथा तो अवश्य सुनी होगी। अनेक माताओंने अपने पुत्रोंको भी यह कथा अनेक बार सुनायी होगी। परन्तु हममेंसे किसीके भी पुत्रने भगवान्को प्राप्त नहीं किया। हमें स्वयंको भी इस कथाको सुनकर भगवान्के दर्शनकी वैसी प्रेरणा नहीं हुई, जैसी भक्तराज ध्रुवजीको हुई थी।

ध्रुवजीका तो बहुत ही हलका अपमान हुआ था। हम सबका तो, हमारे परिजन अनवरत इससे कितना ही गुना अधिक अपमान कर चुके है, फिर भी हम भगवान्में न तो अबतक लगे, और न ही लग रहे हैं।

इसका एक ही कारण समझमें आता है कि हमारा चित्त बहुत ही मैला है। हम लोग संसारसे अनवरत दुःख, शोक, तिरस्कार, कृतघ्नता, मृत्यु पीड़ाएँ, अभाव पाकर भी संसारसे ही चिपके रहना चाहते हैं, संसारको मनसे त्यागकर किनारे हो, भगवान्में नहीं लगना चाहते ! जहाँ ध्रुव जैसा छोटा-सा, मात्र पाँचवर्षका बालक, अपनी सौतेली माताके तनिकसे कटु-वचनोंसे ही कुम्हला गया, और भगवान्के चरणोंके प्रगाढ़ ध्यान एवं चिन्तनमें अतिशय दृढ़तापूर्वक

लग गया, हम प्रतिदिन ध्रुवजीसे कितना ही गुना अधिक तिरस्कार पाकर भी संसारसे राई-रत्ती भी अपना मन हटा लेनेका संकल्प नहीं करते ।

जब भक्त बालक ध्रुव अतिशय छोटी शिशु अवस्थामें ही सब कुछ त्यागकर एकान्तरूपसे भगवान्‌की आराधनाके लिये वनमें चल पड़ा, तो राहमें उसे महर्षि नारद मिले। उन्होंने उस बालकको उसी प्रकार समझाया जैसा दुखी होनेपर प्रायः घरके भाई-बन्धु हमें समझाया करते हैं। नारदजी कहने लगे– "वत्स ! अभी तो तू निरा अबोध बच्चा ही है। संसारमें लोगोंको पद-पदपर कितने अधिक तिरस्कार सहने पड़ते हैं, तुझे अभी इन बातोंका ज्ञान ही कहाँ है ? भाव-अभाव, सुख-दुःख, मान-अपमान, जीवन-मृत्यु सब मात्र अपने कर्मोंके ही फल हैं। अतः उन्हें भोगकर काटनेके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय ही नहीं है। बुद्धिमान पुरुषको चाहिये कि उसे जैसी परिस्थिति मिले, उसे भगवान्‌का परम मंगलमय विधान समझकर, उसीमें परम संतुष्ट रहे। भाई, तू भगवान्‌की आराधना करने चला है, परन्तु बड़े-बड़े योगी लोग अनेकों जन्मोंतक संसारसे अनासक्त रहकर समाधि-योगके द्वारा बड़ी-बड़ी कठोर तपस्याएँ करके भी भगवान्‌के मार्गका पता नहीं पाते। इसलिये बेटा, तू हठ छोड़कर घर लौट जा। बड़ा होनेपर शास्त्राध्ययन करनेके पश्चात् जब तेरी परमार्थ-साधनामें प्रवेश करने योग्य बुद्धि हो जाय, तब भगवान्‌की आराधना कर लेना।"

"बेटा ! भगवान्‌के विधानानुसार सुख-दुःख, जो भी प्राप्त हों, उन्हें तितिक्षापूर्वक सहकर चित्तको सदा सम और सन्तुष्ट रखना चाहिये। यदि तेरे पिता तेरे लघु भ्राता उत्तमको राज्य-समृद्धि देते हैं, एवं तुझे नहीं देते तो भी उसका सुख देखकर तुझे उलटे प्रसन्न ही होना चाहिये।"

नारदजीके इस प्रकार बहुत समझाने एवं घर भेजनेका बहुत आग्रह करनेपर भी दृढ़ निश्चयी ध्रुव भगवान्‌को प्राप्त करनेके अपने संकल्पपर अटल रहे। उन्होंने नारदजीको बहुत ही प्यारा सटीक उत्तर दिया। भक्तराज ध्रुव कहने लगे – "भगवन् ! आप ब्रह्माजीके पुत्र हैं और सूर्यदेवकी तरह त्रिलोकीमें लोगोंको भगवान्‌का दान करते हुए ही विचरण करते हैं। आप तो मुझे कृपाकर भगवान्‌की प्राप्तिका ही साधन बताइये। दयाकर उपरोक्त प्रकारकी बहकाने-फुसलानेवाली बातें कहकर मुझे पुनः संसार-चक्रमें लौटानेकी चेष्टा मत कीजिये।"

भक्त-बालक ध्रुवको अपनी माता सुनीतिके द्वारा मात्र कुछ ही क्षणोंका थोडा-सा सत्संग प्राप्त हुआ था, परन्तु उन दो-चार क्षणोंके सत्संगसे ही उन्होंने अपनी वृत्तियोंको, भगवन्मुखी बना लिया। उन्होंने इस सत्संगके प्रभावसे मात्र पाँच वर्षकी अति अल्पवयमें ही भगवान्‌के चरणोंकी कृपा प्राप्त कर ली।

इसी प्रकार महाराज परीक्षित् चक्रवर्ती सम्राट् थे। सम्पूर्ण विश्वमें उनका एकछत्र सार्वभौम राज्य था। वे वयमें अभी युवक ही थे। एक दिन वे धनुष लेकर वनमें शिकार खेलने गये थे। हरिणोंके पीछे दौड़ते-दोड़ते वे थक गये। उन्हें बहुत ही जोरकी भूख-प्यास लगी। उन्हें आसपासमें कहीं भी जलाशय जब नहीं दिखा, तो वे पास ही स्थित एक ऋषिके आश्रममें प्रवेश हो गये। उन्होंने देखा कि शमीक मुनि समाधिमें ध्यानस्थ बैठे हैं। राजा अत्यंत प्यासे थे, अतः उन्होंने ऋषिकी समाधि-अवस्थामें ही उनसे जल पिलानेकी याचना कर दी। उनका प्याससे गला सूखा जा रहा था। वे भूख-प्याससे छटपटा रहे थे। परन्तु भगवान्‌के ध्यानमें मन एवं बुद्धिके निरुद्ध हो जानेसे ऋषि तो जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति, तीनों अवस्थाओंसे रहित, निर्विकार, ब्रह्मरूप तुरीय-पदमें स्थित थे। जब राजाको ऋषिने न तो पानी पिलाया, न ही उठकर आदर-सत्कार ही किया, तो उन्हें ऋषिका आचरण अपना अपमान लगा। वे क्रोधके वशीभूत हो गये। एक ब्राह्मण ऋषिपर क्रोधित होनेका उनके जीवनमें यह पहला ही अवसर था। राजासे प्रमाद हो गया और क्रोधके वशीभूत हुए उन्होंने ऋषिके गलेमें धनुषकी नोकसे उठाकर एक मरा हुआ साँप डाल दिया, एवं अपनी राजधानीमें लौट आये। उन शमीक मुनिका पुत्र बहुत ही तेजस्वी था। वह दूसरे ऋषिकुमारोंके साथ वहीं थोड़ी दूरीपर खेल रहा था। जब उस बालकने राजाकी करतूत जानी, तो उसने तुरन्त राजाको श्राप दे दिया – "कुलाङ्गार परीक्षित् ! तूने भगवद्भजनरत मेरे पिताका अकारण अपमान किया है; जा, आजके सातवें दिन तुझे तक्षक सर्प डस लेगा।"

राजधानीमें पहुँचते-पहुँचते राजा परीक्षित्‌का क्रोध तो उतर गया और उन्हें समाधिस्थ ब्राह्मणके प्रति किया अपना घृणित कर्म बहुत ही परिताप देने लगा। वे, इस प्रकार अपने किये पर परिताप कर ही रहे थे कि इतनेमें ही उन्हें समाचार मिला कि ऋषिकुमारके शापसे उनके जीवन-कालकी अवधि मात्र सात दिन ही रह गयी है और तक्षक नाग आजके ठीक सातवें दिन उन्हें डसकर मृत्युदान दे देगा।

परीक्षित्‌जीने इस शापको वरदान मान लिया। महाराज परीक्षित् परम धीर थे। वे आसन्न मृत्यु देखकर सर्वथा घबड़ाये नहीं। यदि हममेंसे किसीको भी यह पता चल जाए कि हमारी मृत्यु मात्र सात दिन पश्चात् है, तो हम सारे कुटुम्बियोंको दूर-दूरसे बुलाकर अपनेसे चिपका लेंगे, दिन-रात हम एवं हमारे कुटुम्बी धन-संपत्तिके बँटवारेमें ही लड़ते-झगड़ते रहेंगे। परन्तु परीक्षित्‌जीने तो अपनेको राज-पाट, घर-परिवार सबसे सर्वथा पृथक्, निरासक्त करके

गंगा-तटका आश्रय ले लिया। उन्होंने ब्राह्मण-बालकपर तनिक भी क्रोध नहीं किया, अपितु उन्होंने ब्राह्मण बालकके श्रापको भगवान्‌की अनन्त कृपा ही समझा। वे सोचने लगे – "हाय ! निरन्तर देह-गेहमें आसक्त रहनेके कारण मैं पाप-रूप ही हो गया था। अब मुझे परम विरक्त हो जाना चाहिये, और अपने चित्तको भगवान्‌के चरणोंमें पूर्ण-रूपेण समर्पित कर देना चाहिये। भले ही मुझे भविष्यमें अपने कर्मोंवश चाहे जिस योनिमें जन्म लेना पड़े, अब तो मुझे यही उपाय करना है, जिससे भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें मेरा अनुराग हो, उनके चरणाश्रित महात्माओंमें मेरी विशेष प्रीति हो जाय। वे आमरण अनशन करके अन्न-जल त्यागकर गंगातट पर बैठ गये।

उसी समय पृथ्वीपर स्वेच्छासे विचरण करते श्रीशुकदेव मुनि पधार गये। व्यासनन्दन श्रीशुकदेवजी महाराजके सत्संगसे परीक्षित्‌जी मात्र सात दिनमें ही देव-दुर्लभ परम-पद प्राप्त कर गये।

हम विचार करें, पाँच वर्षके बालक ध्रुवने श्रीनारदजीसे मंत्र-दीक्षा और भगवान्‌का ध्यान सुनकर मात्र छः माहमें भगवान्‌को प्राप्त कर लिया। युवक राजा परीक्षित् मात्र सात दिनमें ही श्रीशुकदेवजी महाराजकी कृपासे भगवान्‌का गुणगान सुनते हुए मृत्युके मस्तकपर पैर रखकर परम-धाम गये। अब वृद्ध राजा खटवाङ्गकी कथा सुनें। उसे तो मात्र दो घड़ी पूर्व ही, अर्थात् मृत्युके अड़तालीस मिनट पूर्व पता चला कि उसकी मृत्यु होनेवाली है। वे मात्र दो घड़ी अर्थात् अड़तालीस मिनटके समयमें ही सब कुछ त्यागकर भगवान्‌के अभयपद को प्राप्त कर गये।

यह सब तभी हुआ, जब इन सभीने भगवान्‌को ही अपने जीवनका सर्वस्व मानकर उन्हें प्राप्त करनेका दृढ निश्चय कर लिया एवं सभी वृत्तियोंको सांसारिक नाशवान् पदार्थोंसे पूरी तरह हटा लिया।

हम सब बड़े भाग्यवान् हैं। हमें श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत, श्री तुलसीकृत रामचरितमानस – जैसे सद्‌ग्रंथ सुलभ हैं। हमें इन ग्रन्थोंका प्रतिदिन सत्संग भी प्राप्त है। फिर भी यदि हम इस सत्संगसे चित्तवृत्ति शुद्धकर भगवान्‌के चरणोंमें अनन्य प्रेम नहीं करते, नाशवान् दुःखोंके घर, क्षण-भंगुर इस शरीर और आने-जानेवाली धन-मायामें ही फँसे रहते हैं, तो हमारे जैसा अभागा दूसरा कौन हैं ? कहते हैं, अपने कल्याण-साधनकी ओरसे असावधान रहनेवाले पुरुषोंको वृक्षों और साँपोंके समान, यदि हजारों वर्षोंकी आयु भी मिल जाय, तो भी वे उसे व्यर्थ ही प्रमाद तथा निद्रा-आलस्यमें खो देंगे और यदि किसीको आधी घड़ीकी ही आयु मिले और वह उस आयुमें ही भगवान्‌की ओर अपनी

वृत्तियोंको मोड़ दे, शरीरादि सांसारिक पदार्थोंको, जो नाशवान् हैं, अपने नहीं हैं, भगवान्‌की क्षण-भंगुर माया समझ ले और अपनेको भगवान्‌का समझ, 'मैं' एवं 'मेरे' को भगवान्‌के चरणोंमें आत्मीयतासे संयुक्त कर दे, तो उसकी आधी घड़ीकी आयु भी सफल हो जाती है। वह अनादि, अनन्तकालसे चौरासीके चक्करमें भटकते रहनेका परम फल मात्र आधी घड़ी (बारह मिनटों) में ही प्राप्त कर लेता है।

विचार करें, परमार्थकी सर्वोच्च उपलब्धि क्या है ? जब भगवान्‌ने हमपर ऐसी कृपा कर दी कि सर्व साधनोंका धाम यह मानव-जन्म हमें दे दिया, तो अब हमें इस मानव-जन्मका पूर्ण सदुपयोग कर, ज्ञान एवं भक्तिकी जो भी सर्वोच्च स्थिति हो, वही प्राप्त कर लेनी चाहिये।

हम चाहें तो मात्र बारह मिनट, अर्थात् आधी घड़ीके सद्विचारोंसे अपना जीवन बदल सकते हैं एवं भक्ति और ज्ञानकी सर्वोच्च अवस्था भगवान्‌को प्राप्त कर सकते हैं। भगवान्‌से उच्च न तो कोई पद है, न ही कोई उच्च स्थिति (गति) ही संभव है। मनुष्य-मात्रको भगवान्‌ने अपनी अनन्त आत्मीयतावश विवेक अथवा विचार-शक्ति नामक एक ऐसा अमोघ अस्त्र दिया है जिससे वह चाहे तो सम्पूर्ण माया-प्रवाहको काट सकता है। ज्ञानयोगका साधक इसी विचारशक्तिसे सत्-असत्, जड़-चेतनका विवेककर, अलगाव करके अपने स्वरूप (अखण्ड चेतन) में स्थित हो सकता है। भक्तियोगका साधक, उसी विचारशक्तिसे 'मैं परमात्माका हूँ', और 'परमात्मा मेरे हैं' – इस प्रकार भगवान्‌से आत्मीयता करके अपना उद्धार कर सकता है। कर्मयोगका साधक उसी विचार-शक्तिसे शरीर, इन्द्रियों, एवं मन-बुद्धि आदि पदार्थोंको संसारका ही मानते हुए संसारकी सेवामें लगाकर, उन पदार्थोंसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद मान लेता है और अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है। हमारी विचार-शक्तिका यदि हम सदुपयोग करें, तो इन तीनों प्रकारके निश्चय करनेमें हमें बारह मिनट भी नहीं लगेंगे, क्योंकि जो भी अशाश्वत, विनाशी एवं दुःखालय है उससे संबंध जोड़नेका अथवा उससे जुड़े रहनेका अनुमोदन किसी भी विचारशील प्राणीकी बुद्धि नहीं कर सकती और अविनाशी, आनन्दस्वरूप, नित्य-सनातन परमात्मासे ही अपना नित्य अखण्ड आत्मीय संबंध है – यह समझनेमें कोई बुद्धिमान् विचारशील प्राणी विलम्ब नहीं कर सकता। हम यदि मात्र बारह मिनट ही सही प्रकारसे विचार करें तो हमें पता चल जायेगा कि हम यह शरीर कदापि नहीं हैं। शरीर बदलता रहता है, और हम कभी नहीं बदलनेवाले, एकरस हैं। जो हम शिशु अवस्थामें थे, वही हम बाल्यावस्थामें रहे, वही हम युवावस्थामें हैं एवं वही

वृद्धावस्थामें भी रहेंगे। यह शरीर भी हमारा नहीं है, क्योंकि इसे हम जैसा चाहें, वैसा यह रह नहीं सकता। शरीरपर हमारा वश भी नहीं है, यह स्वतंत्र है, इसे हम जितने दिन रखना चाहें, उतने दिन यह रहनेवाला भी नहीं है। जैसा सबल, नीरोग इसे बनाना चाहें, यह बन नहीं सकता। यह हमारे लिये भी नहीं है, क्योंकि, यदि हमारे लिये होता, तो इसके मिलनेसे हम पूर्ण संतुष्ट हो जाते। यह परिवर्तनशील है, हम अपरिवर्तनशील हैं। अपरिवर्तनशीलके परिवर्तनशील काम आ ही नहीं सकता। यह हमारा सजातीय भी नहीं है। यह हमारे लिये होता, तो इसे जितने दिन हम अपने पास रखना चाहते – यह रहता। परन्तु यह हमारे वशका भी नहीं है और यह निश्चय ही हमारे लिये भी नहीं है। इन वास्तविकताओंको हम मात्र आधी घड़ी (बारह मिनट) में ही विचार करके शरीरसे अपनेको सर्वथा पृथक् देख सकते हैं। ये विचार स्त्री, पुरुष एवं बालक, सभी थोड़ी विचारशीलता रखकर कर सकते हैं। इन विचारोंको करनेके लिये, न बहुत बड़ी विद्वत्ताकी डिग्रियाँ चाहिये, न ही कोई बहुत अधिक शास्त्र-विचार। यह निश्चय तो साधारण प्राणी थोड़ेसे तर्क द्वारा कर सकता है।

बस, ऐसा विचारकर हम परिवर्तनशील प्राकृत पदार्थोंके साथ राग त्याग दें, हम उनको ही सर्वाधिक महत्व देकर उनका दास कदापि नहीं बनें। अपनेको उनके आधीन सर्वथा नहीं मानें। अपने लिये उनकी आवश्यकता भी नहीं समझें। असत् पदार्थोंके आश्रयका सर्वथा त्याग करके अपने समस्वरूप भगवान्में अखण्डरूपसे स्थित हो जायें। भगवान्से जुड़कर समताका प्राप्त होना तो हमारे घरकी वस्तु है। भगवान्को हमें कहीं भी बाहरसे लाना नहीं है, हमारे अन्दर सत्स्वरूप भगवान् तो भरे ही हैं। हम सत्स्वरूप भगवान्के अंश हैं, । बस, असत् पदार्थों एवं क्रियाओं (चेष्टाओं) से राग करनेके कारण ही सत्य हमसे ओझल हो गया है। असत्का राग हटते ही सत्स्वरूप परमात्माकी प्राप्ति तो स्वतःसिद्ध ही है।

तो कहनेका यही अर्थ है कि परमात्माको प्राप्त करनेकी कोई भी अवधि नहीं है। जैसे ही मनुष्य शरीर एवं इन्द्रियोंके भोगोंसे विरक्त हुआ, उसने असत्, नाशवान्, परिवर्तनशील पदार्थोंसे अपने रागका निवारण किया, बस, वैसे ही उसी क्षण वह भगवान्को प्राप्त हो जाता है।

इसे फिरसे ठीक प्रकारसे समझ लें। हमें परमात्माकी नित्य, सब समय प्राप्ति है। उसे प्राप्त करनेमें शरीर, मन एवं इन्द्रियोंकी किसी भी चेष्टाका आश्रय लेनेकी सर्वथा आवश्यकता नहीं है। शरीर, शरीरके उपयोगी समस्त पदार्थ, शरीरसे होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिजन्य हैं। जब शरीर ही नाशवान् है, तो सारी क्रियाओं, चेष्टाओंका भी आरंभ एवं अन्त है। हम नित्य हैं, हमें

अनित्यमें किसी भी प्रकार फँसना नहीं है। अनित्यको अनित्य समझकर मात्र अपना रागजनित सम्बन्ध-भर विच्छेद कर लें, नित्य तो प्रकट हो ही जायगा। असत्से सम्बन्ध हटते ही सत्पर आरूढ़ तो हम हैं ही।

एक बात और समझ लें – हमने स्वयंने ही अपना पतन किया है। हमने संसारके संबंधको पकड़ा है, संसारने हमको कहीं कुछ भी नहीं पकड़ा है। जैसे बाल्यावस्थाको हमने नहीं छोड़ा, वह स्वतः ही हमसे छूट गयी; हमारा जवानी और बुढ़ापेके साथ भी संबंध निश्चय ही स्वतः, बिना प्रयास छूट जायेगा। हमारी मूर्खता यही है कि जब पुराना सम्बन्ध हमको छोड़ देता है, हम पुनः नये शरीर सम्बन्धको पकड़ लेते हैं। यदि हम सावधान होकर, जो हमें छोड़ रहा है उसके रागसे निवृत्त हो जावें, तो बस, हम परमात्मासे इसी क्षण एक हो जावेंगे, क्योंकि परमात्माके सिवाय सब कुछ स्वतः ही हमें छोड़ रहा है। हमें उसे छोड़नेकी कोई चेष्टा, प्रयास, श्रम कुछ भी करनेकी आवश्यकता नहीं है। हम बस, इसपर दृष्टि जमाकर सावधानीपूर्वक देख लें कि शरीर एवं संसारके साथ हमारा जो भी संयोग है, वह प्रतिक्षण स्वतः छूट रहा है और परमात्मासे हमारा संबंध नित्य अटूट एवं अखण्ड स्वतःसिद्ध है, परमात्मासे हमारा संबंध कभी, किसी भी कारणसे छूट ही नहीं सकता।

मनुष्य-जन्म सम्पूर्ण जन्मोंका अन्तिम जन्म है। भगवान्ने जीवको मनुष्य शरीर देकर उसे जन्म-मरणके प्रवाहसे अपनेको अलग करनेका अचूक अवसर दिया है, साथ ही अपनी प्राप्तिका पूरा अधिकार भी दिया है।

परन्तु यह मनुष्यकी घोर मूढ़ता ही है कि ऐसा अवसर पाकर भी वह विषयोंमें रागी हुआ, पुराने प्रवाह – जन्म-मरणके चक्करमें चला जाता है।

अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि (गीता ९।३।

मनुष्य-जन्म केवल अपना कल्याण अथवा भगवत्प्राप्तिके लिये ही मिला है। विषयोंका सुख तो अन्य योनियोंमें भी प्राप्त हो जाता है। यह मनुष्य-जन्म तो सम्पूर्ण जन्मोंका आदि-जन्म है। सम्पूर्ण जन्मोंका आरंभ मनुष्य-जन्मसे ही होता है। मनुष्य-जन्ममें किये हुए पाप एवं बढ़ाई हुई वासनाएँ चौरासी लाख योनियों और नरकोंमें भोगनेपर भी समाप्त नहीं होतीं। मनुष्य यदि सँभल जाय, तो वह इस एक मनुष्य-जन्ममें ही, मात्र पापोंका ही नहीं, अपितु पापोंकी योनि (उत्पत्ति-भूमि) समग्र वासनाओंका भी समूल नाश करके अपना कल्याण कर सकता है तथा अपने परम एवं चरम लक्ष्यको प्राप्त कर सकता है। भगवान्ने मनुष्यको पूरा अधिकार, पूरी स्वतंत्रता दी है। वह चाहे तो इस मनुष्य-जन्मका दुरुपयोग कर भविष्यमें नये-नये जन्मोंकी तैय्यारी कर ले अथवा अपनी वृत्तियोंको

भगवान्‌में लगाकर पूर्ण-रूपेण अपना उद्धार कर ले तथा अपने स्वरूप भगवान्‌का साक्षात्कार कर ले। भगवान्‌ने श्रीमद्भागवद्गीताके आठवें अध्यायके छठे श्लोकमें कहा है :—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ।।८-६।।

अर्थात्, मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भावका स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, वह उसी भावसे भावित होता हुआ, उस-उस योनिमें चला जाता है।

जब अन्तकालके स्मरणके अनुसार ही गति होती है, तो हमें यही चेष्टा करनी है कि हमें अन्तकालमें भगवान्‌का ही परम पावन स्मरण हो। यहाँ यह ध्यान रहे कि स्मरण उसी वस्तुका होता है, जिसके साथ हमारा अपनापन है। जिस वस्तुके साथ हमारा अपनापन सुदृढ़ है, मृत्युके समय हम उसीका स्मरण करते हैं। जिसको हम स्वभावतः अपना मानते हैं, उसीमें स्वाभाविक ही हमारी मन एवं बुद्धि भी लगी रहती है। यदि हमें अन्तसमयमें भगवान्‌का स्मरणकर भगवान्‌को ही प्राप्त करना है, तो हमें अपनी मान्यताओंमें सुधार करना ही होगा। हमें किसी भी उत्पत्ति-विनाशशील वस्तु, व्यक्ति, घटना, एवं परिस्थिति आदिका आश्रय नहीं रखना होगा। हम परमात्माके हैं, तो हमें परमात्माका ही आश्रयी होना होगा।

यह सदा ध्यान रहे कि जीव परमात्माका अंश होनेसे नित्य-निरन्तर रहनेवाला है। और वह जिन-जिन सांसारिक नाशवान् वस्तुओं, व्यक्तियों आदिका आश्रय लेता है, वे उत्त्पत्ति-विनाशशील एवं प्रतिक्षण परिवर्तित होनेवाले हैं। ये विनाशी एवं परिवर्तनशील होनेके कारण नष्ट हो जाते हैं और यह जीव उनको खोकर रसहीन, सर्वथा रीता-का-रीता, दुखी हो जाता है। यह जीव वस्तुओंको तो खो देता है, परन्तु उनके रागको नहीं खो पाता और यह राग ही उसको मृत्युके समय अनेक ऊँची-नीची योनियोंमें जन्म दे देता है। अगर यह विनाशी वस्तुओंका त्याग कर दे, तो वह मृत्युके समय अचिन्तनकी दशा प्राप्त कर मुक्त हो जाय और यह यदि अपने रागको विनाशी एवं परिवर्तनशील वस्तुओंसे हटाकर नित्य, अविनाशी भगवान्‌के चरण-कमलोंके चिन्तनमें डुबा दे, तो उसे भगवान्‌के सामीप्य, सायुज्य, सार्ष्टि एवं सालोक्यकी प्राप्ति हो जाय। इसीलिए, हमें अपनी पहलेसे बनायी हुई इस मान्यताको मिटाकर कि ये भोग हमारे हैं, ये ऐश्वर्य, भूमि-भवन हमें चाहिये, अपने अन्तःकरणमें भगवान्‌के सिवाय अन्य किसीको भी कोई महत्व एवं आश्रय नहीं देना चाहिये।

इसे पुनः गंभीरतापूर्वक समझ लें। हमारा शरीर हमें कर्मफलसे प्राप्त है,

परन्तु हमारी शरीरके प्रति अहंता-ममता मात्र मानी हुई है। यह कर्मफलका भोग सर्वथा नहीं है। जैसे, मनुष्य जब ब्रह्मचारी होता है, उस समय वह अपनेको गृहस्थ कदापि नहीं मानता, फिर ज्योंही वह गृहस्थ होता है, उसी क्षण ब्रह्मचारी मानना छोड़ देता है। इसमें उसे कोई विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता। वह एक क्षणमें ही ब्रह्मचारी होना छोड़कर गृहस्थ हो जाता है। इसी प्रकार, वही गृहस्थ जब साधु हो जाता है, तो उसकी उसी क्षण 'मैं गृहस्थ हूँ' यह मान्यता भी मिट जाती है। इसी प्रकार, वस्तुसे भी हम अपना सम्बन्ध तत्क्षण तोड़ लेते हैं। हमारा बहुत ही प्यारा मकान है, हमारी दुकान एवं व्यापारिक प्रतिष्ठान है, हम उन्हें बेच देते हैं' और ज्योंही हमने उनको बेचकर कीमत वसूल की, हमारी उस वस्तुमें ममता तत्क्षण ही मिट जाती है। हमें रुपया मिलते ही, भले दूसरे ही दिवस उन सभीमें आग लग जाय, हमें उनके विनाशसे किंचित् भी दुःख नहीं होता। इसी प्रकार, यदि उनकी चाहे दूसरे ही दिन सैकड़ों गुनी आय-वृद्धि हो जाय, हमें उससे सर्वथा हर्ष नहीं होता। इससे यही सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण अहंता-ममता मानी हुई है, वास्तविक नहीं है।

जब सम्पूर्ण अहंता और ममता मात्र मानी हुई ही है, तो उसे हम संसारसे हटाकर परमात्मामें बहुत ही आसानीसे जोड़ सकते हैं। अगर हमारी अहंता एवं ममता संसारके प्रति वास्तविक होती, तो वह मिटायी नहीं जा सकती थी। इसी प्रकार, जब हम परमात्माके अंश हैं, तो हमारी परमात्माके साथ ऐसी एकता है कि वह मिट ही नहीं सकती, अमिट है, उसे हटायी नहीं जा सकती। फिर संसारके साथ हमारा संबंध स्वतः ही टूट जाता है। जैसे बाल्यावस्थामें हमें खिलौने प्राणोंसे प्यारे लगते हैं; परन्तु, जवानीमें मनुष्य रुपये-पैसे, खेत-जमीन, मकान, दुकानमें उलझ जाता है, खिलौनोंके प्रति उसका अपनापन स्वतः ही छूट जाता है। इसी प्रकारसे, मृत्युको प्राप्त होनेपर अथवा निद्रित हो जानेपर हम खेत-जमीन, मकान-दुकान, रुपए-पैसे, स्त्री-पुत्र सबको भूल जाते हैं। इसीलिये, यही सिद्ध होता है कि सांसारिक अहंता-ममता सुगमतापूर्वक छोड़ी जा सकती है और परमात्मा नित्य हमारा है ही, अतः उसे अपना समझना भी परम सुगम ही है।

हम स्वयं नित्य हैं, शरीर एवं संसार अनित्य है। नित्यके साथ अनित्यका संबंध कभी टिक ही नहीं सकता। अनित्य किसी भी क्षण नष्ट हो जायेगा और नित्य एकरस, अखण्ड, अविनाशी है, सदा रहेगा। शरीर और संसारके साथ अपना संबंध है नहीं, मात्र माना हुआ है। इनपर 'मैं' एवं 'मेरेपन' का आरोप कर लिया गया है। शरीर एवं संसार प्रकाश्य है और हम प्रकाशक हैं। शरीर

एकदेशीय है और हमारा स्वरूप देशातीत है। शरीर जड़ है और हमारा स्वरूप चेतन है। शरीर ज्ञेय है और हमारा स्वरूप ज्ञाता है। स्वरूपका ज्ञातापन भी शरीर और संसारको लेकर ही है। अगर शरीरकी दृष्टि हटा दी जाय, तो स्वरूप ज्ञातृत्व-रहित, चिन्मात्र है; केवल चितिरूपसे रहता है। इस चितिरूपमें "मैं" एवं 'मेरा-पन' है ही नहीं। इसमें अहंता-ममताका अत्यंत अभाव है। वह चिन्मात्र परमात्म-स्वरूप ही है। बस, इससे यही प्रमाणित होता है, शरीर एवं संसारसे अहंता, ममता जैसे ही मिटी, परमात्मा हमें तत्क्षण ही नित्य प्राप्त हो जाता है।

जिस परमात्मासे सम्पूर्ण संसार पैदा हुआ है, जो सबका आधार और प्रकाशक है, जो सबमें परिपूर्ण है, जो अनन्त ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्तिसे पहले भी था, जो अनन्त ब्रह्माण्डोंके रहते हुए भी है और जो अनन्त-ब्रह्माण्डरूप भी है, जो अनन्त ब्रह्माण्डोंके लीन होनेपर भी रहेगा, उस परमात्माकी पूजा भला हम कैसे कर सकते हैं ? शास्त्रोंमें मनुष्यके लिये अपने वर्ण एवं प्रवृत्तिके अनुसार अनेक कर्तव्य-कर्म बताये गये हैं। उन सभीसे परमात्माकी पूजा होती रहती है। बस, हमारी समझ यह बनी रहे कि हम अपने साधारण-से-साधारण कर्मसे भी भगवान्‌की पूजा ही कर रहे हैं। अगर मनुष्य, मात्र यह भाव रखे कि मैं परमात्माकी आराधना ही कर रहा हूँ, तो उसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ ही परमात्माका पूजन हो जायेंगी। जैसे पितामह भीष्मने अर्जुनके साथ युद्ध करते समय उसके सारथी बने भगवान्‌की अपने युद्ध-रूप कर्मके द्वारा पूजा की। भीष्मके बाणोंसे भगवान्‌का कवच टूट गया, भगवान्‌के सारे शरीरमें बाणोंने प्रवेश कर-करके घाव कर दिये। हाथकी अँगुलियोंमें छोटे-छोटे बाण लगनेसे भगवान्‌की परम सुकोमल अँगुलियाँ लगाम पकड़नेमें असमर्थ हो गयीं; परन्तु भगवान्‌ने अपने घायल कर देने रूप कर्मको भी भीष्म द्वारा श्रद्धापूर्वक किये जानेके कारण अपनी पूजा ही माना। ऐसी पूजा करनेके पश्चात् पितामह भीष्म शरशय्यामें पड़े-पड़े अपने युद्धकर्मद्वारा पूजित एवं बाणोंसे ही पाद्य-अर्घ्य ग्रहण किये हुए भगवान्‌का ध्यान करते हैं :-

युधि तुरगरजोविधूम्रविष्वक्कचलुलितश्रमवार्यलंकृतास्ये ।
मम निशितशरैर्विभिद्यमानत्वचि विलसत्कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा ।।

(श्रीमद्भागवत् १।९।३४)

अर्थात्, युद्धमें मेरे तीखे बाणोंसे जिनका कवच टूट गया है, जिनकी त्वचा विच्छिन्न हो गयी है, परिश्रमके कारण जिनके मुखपर स्वेदकण सुशोभित हो रहे हैं, घोड़ोंकी टापोंसे उड़ी हुई रज जिनकी सुन्दर अलकावलिमें लगी हुई

है, इस प्रकार बाणोंसे अलंकृत भगवान् श्रीकृष्णमें मेरे मन-बुद्धि लग जावें।

मनुस्मृतिमें ब्राह्मणोंके लिये छः कर्म बताये गये हैं। स्वयं पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना – ये ब्राह्मणके कर्तव्य कर्म हैं और पढ़ाना, यज्ञ कराना, तथा दान लेना – ये उसके आजीविकाके कर्म हैं। इनके अतिरिक्त शम, दम, नियम, जप, तप, तितिक्षा, ध्यान, धारणा, एवं समाधि, ये नौ ब्राह्मणके स्वभावज कर्म हैं, इनके अतिरिक्त खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना-जागना, चलना-फिरना आदि जितने भी कर्म हैं, उन सभी कर्मोंको, भगवान्को श्रद्धापूर्वक अर्पणकर ब्राह्मण भगवान्का सब समय पूजन करे। इसी प्रकार, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, सभी अपने वर्ण एवं आश्रमोंके अनुसार सेवाके द्वारा भगवद्बुद्धिसे अतिश्रद्धापूर्वक भगवान्की अपने सभी कर्मोंके द्वारा पूजा कर सकते हैं।

लौकिक एवं पारमार्थिक सभी कर्मोंके द्वारा भगवान्का पूजन तो करना चाहिये, परन्तु उन कर्मों और उनको करनेके उपकरणोंमें, और इन्द्रियोंमें ममता नहीं रखनी चाहिये। इसका कारण यही है कि जिन वस्तुओं, क्रियाओंमें ममता हो जाती है, वे सभी वस्तुएँ अपवित्र हो जाती हैं । जैसे भगवान्के भोगके लिये वस्त्र, आभूषण, अलंकार एवं प्रसाद (भोजन) सामग्रीमें अपनी ममता रखनेसे वे सभी वस्तुएँ अपवित्र हो गयीं, ऐसा माना जाता है। हमें भगवान्की पूजा करते समय ***'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पयेत्'*** का भाव ही रखना चाहिये, क्योंकि भगवान् किसीके भी ममत्व-मलसे दूषित वस्तु कदापि ग्रहण नहीं करते। 'प्रकृतिमें जो कुछ है, सब परमात्माका है; 'मैं तो मात्र निमित्त हूँ' – इस भावसे जो कुछ किया जाता है, वही निर्मल होता है और निर्मल भाव, निर्मल वस्तुओंसे ही भगवान् अपनी पूजा ग्रहण करते हैं। जिन क्रियाओं, वस्तुओं आदिको मनुष्य जितनी अपनी मान लेता है, उतनी ही वे परमात्माके पूजनसे वंचित हो जाती हैं। जो भी वस्तु चाहे वह एक तुच्छ फूल, एक तृण, एक पत्र ही हो, यदि उसे व्यक्तिने स्वयं भोग लिया, अपनी मान लिया, उसे भगवान् भला कैसे स्वीकार कर सकते हैं ? अपने सम्पूर्ण कर्मों एवं प्राकृत पदार्थोंसे परमात्माका पूजन करनेवाला मनुष्य प्रकृतिके सम्बन्धसे रहित हो जाता है क्योंकि उसका सब समय यही भाव रहता है, शरीर एवं इन्द्रियों-सहित सम्पूर्ण प्रकृति-पदार्थ भगवान्के हैं, भगवान्के लिये हैं, अतः भगवद्रूप ही हैं। ज्योंही मनुष्य प्रकृतिके राग एवं सम्बन्धसे रहित हुआ, वह स्वतः ही अपने प्रियतम भगवान्का हो जाता है। भगवान्के प्रति बारबार अपने शरीर और अहंताको समर्पित करते रहनेके कारण उसका प्रभुमें अनन्य प्रेम जाग्रत् हो जाता है। प्रभु-प्रेमके प्राप्त होते ही फिर उसके लिये कुछ भी पाना शेष नहीं रहता।

यहाँ मनुष्य शब्दका अर्थ मात्र ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र एवं वैश्य ही नहीं लेना चाहिये, वरन् मनुष्यमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, पारसी, यहूदी, सभी जाति एवं धर्मके व्यक्ति सम्मिलित हैं। मानवमात्र अपने स्वाभाविक कर्मोंसे परमात्माके पूजनके अधिकारी हैं। क्योंकि जीवमात्र परमात्माका अपने-से-अपना अंश है।

जैसे, घरमें स्वभाव आदिके भेदसे अनेक तरहके बालक होते हैं, परन्तु उन सबकी माँ एक ही होती है और उन बालकोंकी तरह-तरहकी जितनी भी क्रियाएँ होती हैं, उन सभी क्रियाओंसे माँ प्रसन्न होती रहती है, क्योंकि उन सभी बालकोंमें माँका पूरा अपनापन होता है। ऐसे ही, चाहे कोई किसी भी जातिका, मान्यताका, धर्मका, वर्णका, रूप-रंगका, कर्म-स्वभावका हो, भगवान् उससे इतना ही चाहते हैं कि यह मेरे सम्मुख हो जाय। भगवान्‌के सम्मुख हुए एवं प्रकृति और शरीरके रागसे रहित हुए मनुष्यकी सभी क्रियाओंको भगवान् अपना पूजन मान लेते हैं और प्रसन्न हो जाते हैं। आवश्यकता इतनी ही है कि वह व्यक्ति उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंके रागसे रहित हो जाय और भगवान्‌के सम्मुख हो जाय। यह बात पुनः समझ लें कि उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका प्रारब्ध रहते त्याग संभव नहीं है, त्याग करना मात्र उनके रागका ही संभव है। मनुष्यकी जैसी स्वतःसिद्ध प्रवृत्ति है, स्वाभाविक प्रकृति है, उसमें वह अगर राग-द्वेष जनित नयी उलझन पैदा न करे तो वह प्रकृति स्वाभाविक ही उसका कल्याण कर देती है। तात्पर्य यही है कि मनुष्य और उसकी भगवान्‌के द्वारा बनायी प्रकृतिके द्वारा प्रवाह-रूपसे अपने-आप होनेवाले जो स्वाभाविक कर्म हैं, उनका यदि कोई स्वार्थत्यागपूर्वक, प्रीति और तत्परतासे आचरण करे, परन्तु कर्मोंके प्रवाहके साथ राग-द्वेष नहीं करे, और न ही फलेच्छा रखे, तो उसका स्वतः करनेका वेग (रजोगुण) धीरे-धीरे शान्त हो जाता है। कर्ममें आसक्ति नहीं होनेसे नयी रजोगुणी क्रिया (वेग) पैदा नहीं होती। इससे प्रकृतिके पदार्थों और क्रियाओंके साथ निर्लिप्तता आ जाती है। निर्लिप्तता होनेसे प्रकृतिकी क्रियाओंका प्रवाह (प्राकृत रजोगुण) स्वाभाविक ही चलता रहता है और उनके साथ अपना कोई संबंध नहीं माननेसे साधकका भगवान्‌के साथ नित्य संयोग हो जाता है, जो प्राणीमात्रका स्वतः दायभाक् है।

कर्मोंमें एक तो 'अभिरति' होती है एवं दूसरी 'आसक्ति' होती है। अपने स्वाभाविक कर्मोंको केवल दूसरोंके हितके लिए तत्परता और उत्साहपूर्वक करते रहनेसे मनमें जो प्रसन्नता होती है, उसका नाम 'अभिरति' है, तत्सुख-सुखिया भाव है। इसे ही साधारण भाषामें प्रेम कहते हैं। फलकी इच्छासे कर्म

करना, अर्थात्, कुछ 'स्व' को मिले, कुछ प्राप्त हो, इसलिये कर्म करना 'आसक्ति' है, काम है, स्वार्थ है। प्रेमसे, निष्काम कर्मसे, तत्सुख-सुखियाभावसे किये कर्मसे कल्याण होता है, भगवान्से संयोग होता है और आसक्तिसे संसार एवं बन्धन दृढ़ होते जाते हैं।

चेतन-जीवात्मा और जड़ प्रकृति दोनोंका स्वभाव भिन्न-भिन्न है। चेतन स्वाभाविक ही निर्विकार अर्थात् परिवर्तनरहित है और प्रकृति स्वाभाविक ही विकारी अर्थात् अशाश्वत और दुःखालय है। इन दोनोंका स्वभाव भिन्न-भिन्न होनेसे इनका सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं है। चेतनने प्रकृतिके साथ अपना संबंध मानकर उसे सत्य भावनासे जोड़ लिया है। इसीको गुणोंका संग कहते हैं। यह गुणोंका संग ही जीवात्माको अच्छी-बुरी योनियोंमें ले जाता है।

कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ।। (गीता १३।२१।।)

उन गुणोंके अनुसार ही मनुष्यमें कर्म-भेद होता है। उन गुणोंके अनुसार ही कर्म भी स्वाभाविक एवं सहज होते हैं। जैसे तमोगुण-प्रधान जीव स्वाभाविक रूपसे ही बहुत निद्रा-आलस्य-प्रमादयुक्त कर्म करेगा। रजोगुणीमें करनेका अथाह वेग रहेगा। गुणोंके अनुसार स्वभाव और स्वभावके अनुसार स्वाभाविक कर्म होते हैं। सतोगुणी व्यक्ति अधिक लंद-फंद एवं करनेके वेगसे उपरत रहेगा। रजोगुणीकी स्वाभाविक ही लंद-फंदात्मक प्रवृत्ति रहेगी। मनुष्य जब इन भिन्न-भिन्न स्वभावोंको प्रकृतिका गुण न मानकर अवगुण बुद्धि करके, जब इनका प्रयोग अपने स्वार्थ, भोग, और आरामके लिये करता है, तब वह उस स्वभाव और कर्मफलकी आसक्तिके कारण उससे बँध जाता है। जब उन्हीं कर्मोंको स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके निष्काम-भावसे संसारके हितके लिये करता है, तब वे ही कर्म परमात्मासे योग करानेवाले हो जाते हैं।

(इसी समय श्रोताओंमेंसे एक व्यक्ति उठकर प्रश्न करता है)

प्रश्नकर्त्ता - "स्वामीजी ! मुझे बहुत निद्रा आती है। रोकनेकी चेष्टा करनेपर भी रुकती नहीं। रात्रिमें भरपूर सोनेपर भी दुकानमें भी सो जाता हूँ। सत्संगमें भी खड़ा होकर सुनता हूँ, फिर भी निद्रा आती है। इस निद्रारूप कर्मको सर्वव्यापक परमात्माकी पूजा कैसे बनाऊँ ? कृपा करके इसपर प्रकाश डालिये।

स्वामीजी - भाई ! एक बात का ध्यान रखो कि तुम्हे जो अत्यधिक निद्रा आती है, वह तुम्हें नहीं, तुम्हारे शरीरको ही आती है। तुम्हारी निद्रा स्वाभाविक नहीं है, अस्वाभाविक है। वह या तो किसी बीमारीके कारण है, या तुम्हारे गलत अभ्यासके कारण है। मनुष्य, जैसे अभ्याससे निश्चय करके निद्राको कम कर

सकता है, वैसे ही निद्राको अधिक सोनेकी आदत डालकर बढ़ा भी लेता है। परन्तु यह निश्चय मान लो, निद्रा शरीरको ही आती है, तुम्हें तो निद्रा आ ही नहीं सकती। चेतनको तमोगुण कभी आवृत कर नहीं सकता। अंधकार पृथ्वीको तो आवृत कर सकता है, परन्तु वह सूर्यको कदापि आवृत नहीं कर सकता।

पहली भूल तो तुम यह कर रहे हो कि अपनेको चेतन परमात्माका अंश नहीं मानकर रजोगुणी, तमोगुणी, सतोगुणी शरीररूप प्रकृति मान रहे हो। फिर शरीरकी किसी बीमारी, अवगुणको अपना अवगुण मान रहे हो। पहले इस भावसे अपनेको सर्वथा मुक्त करो। स्वयं अपनेको दीर्घकालतक सोनेवाला तमोगुणी शरीर नहीं मानकर शुद्ध-बुद्ध परमात्माका चिन्मय-चेतन अंश अनुभव करो। फिर निद्रारूप तमोगुणी कर्मको अपनेसे पृथक्, मात्र पूजनसामग्री समझकर उसे भगवान्‌को समर्पित कर दो। प्रतिदिन सोनेके पूर्व यही भाव करो कि :–

या देवी सर्वभूतेषु निद्रारूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ।।

हे भगवान्‌की मायाशक्ति ! तुम जिस प्रकार सतोगुणी हो, ठीक वैसी ही निद्रारूप तमोगुणमें भी सम्यक् प्रकारसे स्थित हो। भगवान्‌की शक्ति भगवान्‌के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होती। अतः हे भगवत्स्वरूपे ! तुम्हें मेरा नमस्कार, नमस्कार, अनन्त बार नमस्कार है।

इसी प्रकार निद्रामें भगवद्‌बुद्धि करनेसे आपका निद्राके प्रति राग-द्वेषभाव समाप्त हो जायेगा और भगवद्‌बुद्धिके कारण प्रतिक्षण प्रेम बढ़ता जायेगा और निद्राकर्ममें पूज्य-भाव होकर भगवत्सेवाका भाव जग जायेगा। बस, निद्रा श्रेष्ठ भगवत्पूजा हो जायेगी।

पुनः इस बातको समझ लें; जबतक हम देहधारी हैं, देहके साथ तादात्म्य रखते हैं, तबतक हम चाहे थोड़ी निद्रा लें अथवा अधिक निद्रा लें, निद्राका सर्वथा त्याग तो संभव ही नहीं है। शरीर प्रकृतिका कार्य है और शरीरके साथ तादात्म्य रखनेवाला प्राणी तमोगुण, रजोगुण दोनोंसे रहित कैसे हो सकता है ? अतः रजोगुण आनेपर, जैसे अग्निमें धूम होगा ही, शुभके साथ अशुभकर्म होंगे ही। इन कर्मोंसे भी हमें द्वेष नहीं रखना है। शुभकर्मोंसे राग रखनेपर शुभकर्म भी पुनर्जन्मके कारण हो जायेंगे और जन्म होनेपर अशुभकर्मोंकी पुनः संभावना होकर नीच योनियों एवं नरकोंमें भी जाना पड़ सकता है।

अतः भीतरसे कर्मोंका सम्बन्ध छोड़ना ही वास्तवमें छोड़ना है। बाहरसे किसी भी शुभ-अशुभकर्मसे सम्बन्ध नहीं छोड़ा जा सकता। कोई मनुष्य यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, आदि कर्मोंका त्याग कर सकता है, परन्तु वह खाना-पीना नहीं

छोड़ सकता। भोजन करेगा, तो अन्नके उत्पन्न करने, उसे सँभालने, पीसने, पकानेमें जीव-हिंसाका पापकर्म भी होगा ही; जलमें निहित सूक्ष्म जीवोंकी हिंसा होगी ही। इसी प्रकार, आने-जानेमें, चलने-फिरनेमें, उठने-बैठनेमें होनेवाले शुभाशुभ कर्मोंका त्याग नहीं ही हो सकता। अतः हम भीतरसे ही निद्रादि कर्मोंकी आसक्तिका त्याग कर सकते हैं। कोई भी देहधारी मनुष्य कर्मोंका स्वरूपतः त्याग नहीं कर सकता। भावसे ही वह उनसे अपनेको पृथक् मान सकता है। अतः साधकको चाहिये कि वह किसी भी कर्मको अच्छा-बुरा नहीं माने। न शुभमें राग, न अशुभसे द्वेष; न जाग्रतिको अच्छी समझे, न निद्राको बुरी। सब प्रकृतिमात्र भगवान्का ही माया रूप है; भगवान्की ही शक्ति है, ऐसा मानकर उसे भगवान्के चरणोंमें डाल दें और अपनेको भगवान्से जोड़ लें। बस, फिर उसकी सम्पूर्ण क्रियामात्र परमात्माका पूजन ही होगी; उस पूजनसे उसे नित्य परमात्माका अखण्ड संयोग प्राप्त होता रहेगा और मानव-जीवनकी सबसे बड़ी उपलब्धि यही होगी कि हमारा सर्वकालमें भगवान्से अखण्ड संयोग बना रहे।

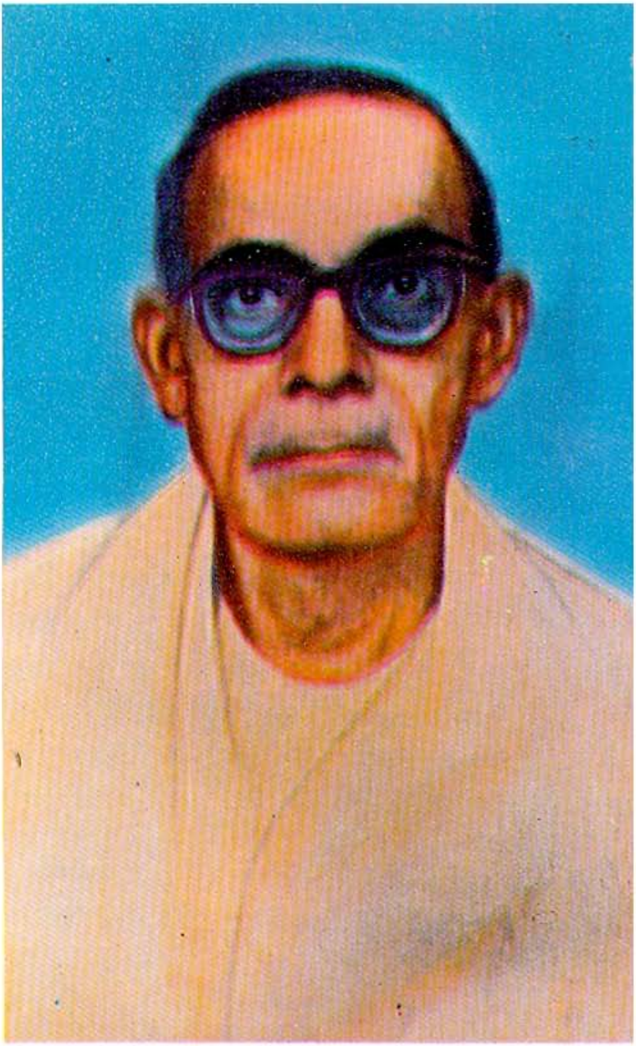

श्रीराधाबाबाके अग्रज-भ्राता

श्रीदेवदत्तजी मिश्र

महाभाव-दिनमणि

श्रीराधाबाबा

द्वितीय खण्ड

तीसरा अध्याय

(अग्रज-भ्राताओंसे पत्राचार)

विषय :

१. भगवान्से एकात्मता....
२. भगवान्के चरण-चिह्न..... (अ) एवं (ब)
३. भगवान्के अंग-प्रत्यंगका ध्यान
४. भगवान्का वर्ण
५. श्रीरूप-सनातनके त्यागमय जीवनका अनुसरण
६. श्रीधाम-वृन्दावनकी एक चमत्कारिक घटना
७. तत्तेनुकम्पां सुसमीक्ष्यमाणः
८. संसारकी सच्ची सेवा
९. स्मर्त्तव्यं सततं विष्णुः
१०. बेटी किशुनपियारीका भगवद्धाम-प्रवेश
११. पू. भाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) का छायावत् संग
१२. पूज्या माँकी सच्ची सेवा
१३. भगवन्नाम-महिमा एवं नामी से नामकी एकात्मता
१४. सकल लोक माँ सहुँने वन्दे....
१५. उमा राम-सुभाउ जेहिं जाना । ताहि भजनु तजि भाव न आना ।।
१६. भोगोंमें सुख नहीं
१७. भगवान्का आश्रय ही एकमात्र कर्तव्य
१८. मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु

सार-संक्षेप

(इन्हीं पत्रोंका मधु-संचयन)

भक्तोंकी मान्यतानुसार भगवन्नाम एवं भगवच्चरणारविन्दकी महिमा स्वयं भगवान् भी अपने मुखसे बखान करनेमें समर्थ नहीं हैं।

x x x

भक्त भगवत्प्रेममें इस प्रकार तल्लीन रहते हैं कि वे अपने स्वरूपको भूलकर साक्षात्भगवत्स्वरूपका ही निरन्तर आठोंयाम अनुभव करते हैं। ये भगवद्भक्त इतने प्रभावशाली होते हैं कि उनपर पूर्ण श्रद्धा हो जाय तो उसे उसी क्षण भगवत्प्राप्ति हो जाय। अतएव जिसको भी भगवद्दर्शन किंवा भगवत्प्रेमकी प्राप्तिकी इच्छा है, उसे ऐसे भगवत्प्रेमी सन्तको पकड़ लेना चाहिये।

x x x

जीवके मनमें स्वाभाविक ही प्रेमका स्रोत है, परन्तु विषयोंके प्रति वृत्तियोंके अनवरत प्रवाहित होनेसे उसके प्रेमकी धारा दूषित हो गयी है, इसीसे विशुद्ध प्रेम दुःख उत्पन्न करनेवाले कामके रूपमें परिणत हो गया है।

x x x

सन्त निश्चयही हमें अपने वस्तुगुणसे ही कल्याण-मार्गकी ओर ले जावेंगे, उनका वस्तुगुण हमारी श्रद्धा-अश्रद्धाकी अपेक्षा भी नहीं रखता, परन्तु इसमें थोड़ा काल अवश्य लग सकता है।

x x x

चाहे यह बात मैं अन्य किसीके गले नहीं उतार सकूँ, परन्तु भगवान्के सगुण-साकार स्वरूपकी चरण नख-द्युतिकी एक अति अल्प-सी किरण और सर्व उपनिषदोंका सार तत्वज्ञान, दो भिन्न वस्तुएँ कदापि-कदापि नहीं है।

x x x

भगवान्के सगुण-साकार विग्रहमें जो भी शक्तियाँ निहित हैं, वे सभी शक्तियाँ भगवान्के नाममें भी पूर्णतया निहित हैं।

x x x

सभी पुराण समाधि भाषामें लिखे गये ग्रन्थ हैं। इनमें अनेक कल्पोंके वर्णन किये गये हैं। कल्पान्तरमें देशगत भूगोल, प्राकृत वस्तुएँ, उनके आकार-प्रकार नवीन रूप ग्रहण कर लेते हैं। हमें हमारे इस कल्प और युगमें कुछ बातें वैसी नहीं मिलें, जैसा पुराणोंमें वर्णन है, वे वर्णन युक्ति-संगत भी नहीं लगें, परन्तु इनकी सत्यतामें कहीं किञ्चित् भी न्यूनता नहीं है।

x x x

।। श्रीराधा ।।

तीसरा अध्याय

पत्र-संख्या - एक

भगवान्‌से एकात्मता

पत्र-प्रेषिति :

पं. श्रीदेवदत्तजी मिश्र

(प. पू. श्रीराधाबाबाके अग्रज भ्राता)

स्थान :
श्रीजयदयाल हरिकृष्णदास फर्मकी व्यापारिक कोठी, बाँकुड़ा (बंगाल)

दिनांक :
कार्तिक अमावस्या वि. सं. १९९४, तदनुसार, ता. २३-१०-१९३७ ई.

प्राप्ति-सूत्र :
पं. श्रीदेवदत्तजी मिश्रकी पत्र-संग्रहकी कापीसे उद्धृत

आलोक

श्रीजयदयाल हरिकृष्णदास फर्मकी कोठीके नीचेके तल्लेमें व्यापारिक प्रतिष्ठान है। ऊपरके तल्लेमें निवास (भवन) बना है। उसी निवासमें एक शान्त पृथक् कमरेमें पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज (तरुण सन्यासी जो भविष्यमें पू. श्रीराधाबाबाके नामसे विख्यात हुए) ठहरे हैं। पार्श्वके बड़े कमरे (हाल) में 'गीता-तत्त्वविवेचनी' (श्रीमद्भगवद्गीताकी सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके विचारोंकी प्रतिपादक टीका) का कार्य हो रहा है। टीकाकार्यके लिये कोठीमें ही अन्य पृथक्-पृथक् कक्षोंमें श्रीरामसुखदासजी महाराज (रामस्नेही सम्प्रदायके सन्त) पं. श्रीशान्तनुबिहारी द्विवेदी (संस्कृत एवं श्रीमद्भागवतपुराणके प्रख्यात विद्वान्) आदि अनेक लोग ठहरे हैं। भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार भी गोरखपुरसे आये हैं।

वातावरणका परिचय एवं सन्दर्भ

सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकी कोठी, एक व्यापारिक प्रतिष्ठान तथा गृहस्थका घर होते हुए भी निरन्तर ब्रह्मज्ञान-चर्चा, सत्संग और श्रीमद्भगवद्गीताके तत्त्व-रहस्योंकी विचार-गोष्ठियोंसे मुखरित रहती है। यहाँ

संध्यावन्दन, जप-तप, स्वाध्यायादि होते रहनेसे वातावरण ऋषि-गृह तुल्य है। यद्यपि नीचेकी मंजिलमें यहाँ व्यापार कार्य भी होता है, परन्तु व्यापार करनेवाले मुनीमों एवं स्वयं मालिकोंकी डेस्कोंके आगे भगवान् राम, कृष्ण, नारायण, शिव, दुर्गा आदि, जो जिसके इष्ट हैं, उनके अति मनोरम चित्र लगे हैं, सभी मुनीमों एवं कार्यकर्ताओंको प्रातःकालीन भगवत्प्रार्थनाके समय प्रतिदिन यही शिक्षा दी जाती है कि सभी ग्राहकोंसे अति भक्ति-विनयपूर्वक भगवद्दृष्टि रखकर ही व्यवहार किया जाय। वस्तुओंके दाम एक रहें और अधिक लाभ लेनेकी प्रवृत्ति नहीं रहे। तनिक भी व्यापारिक छल-कपट, झूठ-फरेब सर्वथा नहीं हो। वैश्यजातिका धर्म व्यापार है, इसलिये धर्मभावनासे कर्म किया जाय, उसमें हानि-लाभरूप फलकी ओर दृष्टि नहीं रहे। उपनिषदोंमें वर्णित तुलाधार वैश्यका आदर्श सदा लक्ष्यमें रहे। व्यापारकार्यमें लगे नौकरवर्ग भी परस्पर अति श्रद्धापूर्वक 'नारायण', 'रामजी' आदि भगवान्के नामोंका संबोधन करते हुए ही व्यवहार करें। घरकी स्त्रियाँ भी वर्णाश्रमधर्मानुसार पातिव्रत-धर्मका पालन करती हुईं, सबमें भगवान्की मूर्ति ही देखती हुईं, सभी अतिथियों एवं गृहस्थ-परिवारकी सेवामें निरत हैं। परम सात्त्विक भावोंका सर्वत्र प्राबल्य है। वातावरणमें आचारशुद्धिको सर्वोपरि महत्व दिया जा रहा है। प्रमाद, आलस्य, अस्वच्छता, अपवित्रता, जूठ-कूठ आदि बुरे संस्कार बच्चोंमें भी नहीं हैं। धर्म-पालन एवं साधना ही सबके लक्ष्य हैं।

स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज (पं. पू. श्रीराधाबाबा) अपने कक्षमें बैठे अपने अग्रज भ्राताओंको पत्र लिख रहे हैं।

श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

पूज्य देवदत्त भैया !

सादर सप्रेम प्रणाम ! आपके दोनों पत्र यथासमय मिल गये थे। सब समाचार ज्ञात हुए ।

सत्संग करनेसे मनुष्यको थोड़ी-बहुत शान्ति तो अवश्य ही मिलती है। फिर जितनी अधिक श्रद्धा हो, उतना ही अधिक लाभ होता है। अधिक लाभ श्रद्धापूर्वक सत्संगको आचरणमें उतारनेकी तत्परता एवं लगनपर निर्भर करता है। अनेक संत इतनी उच्च-कोटिके होते हैं कि उनमें भगवान्से पूर्णतया अभेद हो जाता है। भगवान् एवं उनमें फिर कोई भेद नहीं रहता। उनका पाञ्च-भौतिक शरीर, मात्र प्रारब्धाधीन रहता है। शेष 'मैं ब्रह्म हूँ', 'मैं भगवान् राम हूँ', 'मैं नारायण हूँ', 'मैं भगवान् श्रीकृष्ण हूँ' इस ज्ञानसे वे क्षणभरके लिये भी